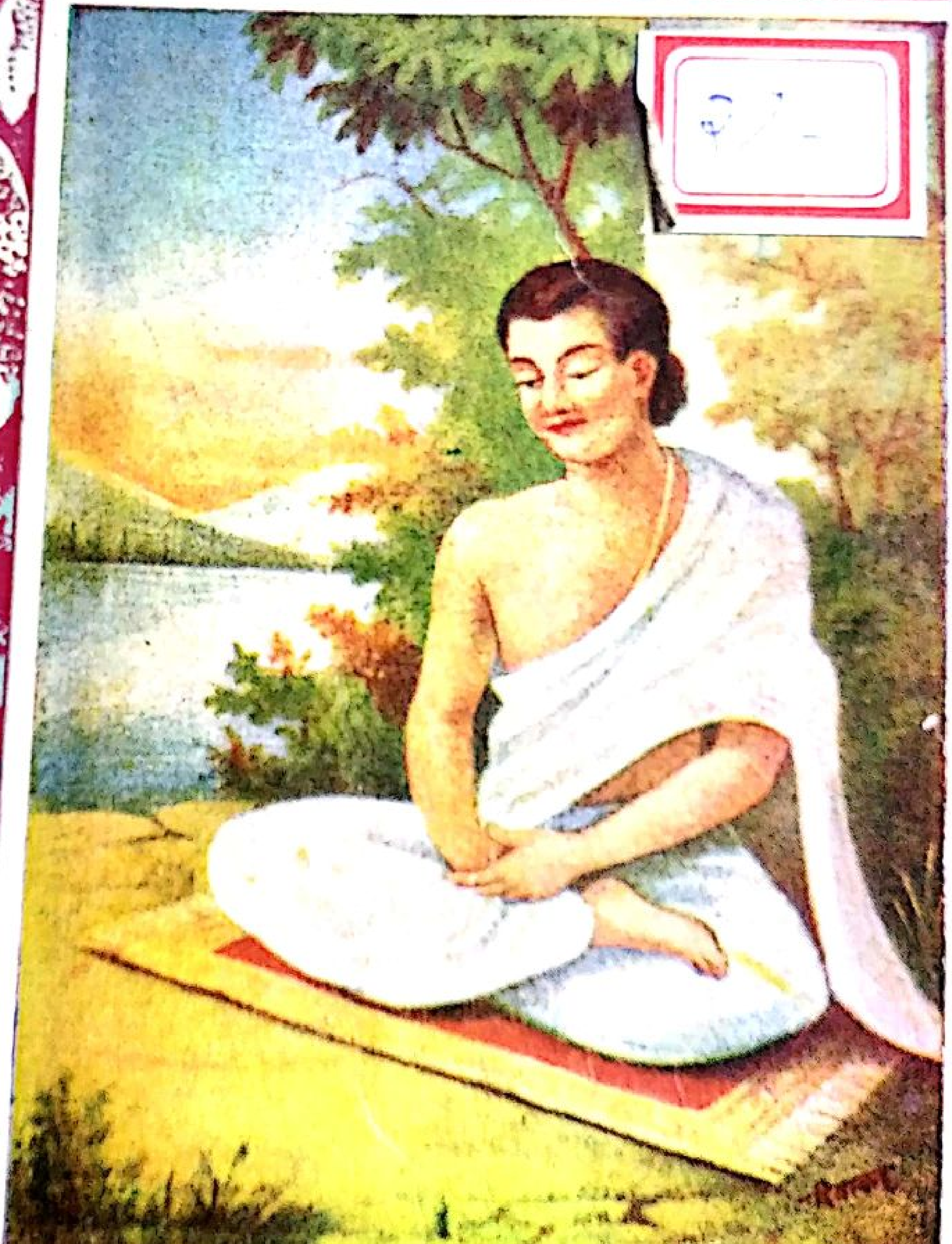
सन्ध्या विनय
या
पूजा के पुष्प



सन्ध्या विनय

अथवा

पूजा के पुष्प

नित्यानन्द पटेल, वेदालंकार, एम. ए.
पी. एच. डी.—युनिवर्सिटी गाइड

['सन्ध्या सुमन', 'मनोविज्ञान की रूपरेखा'
'प्रार्थना दीप' 'जीवन की राहें',
'पूर्व ग्रोर पश्चिम' ग्रादि के लेखक]

गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली

प्रथम संस्करण : १९४०
द्वितीय संस्करण : १९४६
तृतीय संस्करण : १९५२
चतुर्थ संस्करण : १९६०
पंचम संस्करण : १९६३
षष्ठ संस्करण : १९६९

मूल्य ~~डेढ़ रुपया~~
२/-

प्रकाशक : गोविन्दराम हासानन्द
४४०८ नई सड़क, दिल्ली।
मुद्रक : अनिल कम्पोजिंग एजेन्सी
द्वारा बदलिया प्रिंटिंग प्रेस,
दिल्ली।

दो शब्द

[श्री पूज्यपाद पं० सातवलेकर जी]

आपकी 'सन्ध्या विनय' पुस्तक पढ़ी, मन को बड़ा समाधान हुआ। आपने इस पुस्तक में 'सन्ध्या का हृदय' बताया है। महाभारत में श्री भीष्म-पितामह ने कहा है—

'ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः'

आपने इस कथन को सिद्ध करके दिखा दिया है। जो आर्य, आपकी इस पुस्तक के अनुसार, दीर्घकाल तक रोज़ सन्ध्या करेंगे, उनका हृदय आत्मिक बल से सामर्थ्यवान् बनेगा, और वे निःसन्देह दीर्घजीवी बनेंगे।

आर्यों को महर्षि दयानन्द जी ने यह सन्ध्या दी, और आर्यों पर बड़े उपकार किये। आपने इस सन्ध्या के मंत्रों का रहस्य बताकर, नित्य सन्ध्या करने की आर्यों को उत्तेजना दी है। सब आर्य जो इस पुस्तक को पढ़ेंगे, आपके धन्यवाद गायेंगे।

संस्कृत से अनभिज्ञ, श्रद्धा-वश प्रतिदिन नियम-पूर्वक सन्ध्या करने वाली, सामान्य-जनता की अपनी एक कठिनाई है। वह है, सन्ध्या के मन्त्रों के अर्थों और उनमें निहित उच्च भावनाओं से अपरिचित होना।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए ही, प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने स्तुत्य प्रयास किया है। पुस्तक में, सन्ध्या के अर्थों के अनुरूप भाव-भरी प्रार्थनाएँ दी गई हैं। सन्ध्या को जीवनोपयोगी बनाने में सहायक ये प्रार्थनाएँ, उत्तमोत्तम संकल्पों की उद्बोधक हैं।

—श्री पं० विश्वबन्धु जी रिसर्च स्कालर

सन्ध्या के मंत्रों पर लिखी भावपूर्ण प्रार्थनाएँ निस्सन्देह उद्बोधक हैं, भक्ति-भावना पुष्ट करती हैं, और अतिशय आध्यात्मिक आनन्द प्रदान करती हैं। पुस्तक की भाषा अति सरल, सुललित और काव्यमयी है। आर्यजनों में भक्ति-भाव की अभि-वृद्धि के लिए 'सन्ध्या विनय' का यथेष्ट प्रचार हो, यही कामना है।

—श्री पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड

वर्तमान संस्करण, पुस्तक का छठा संस्करण है। यह बात ही पुस्तक की सर्वमान्यता का पर्याप्त प्रमाण है। पुस्तक की विशेषता यह है कि हर मन्त्र के साथ, एक प्रार्थना जोड़ी गई है, जो इतनी रुचिकर है कि पढ़ते-पढ़ते भान होने लगता है, मानो वाचक परमेश्वर की गोद में हिलोरें ले रहा हो। इन प्रार्थनाओं के कारण, एक दिन यह पुस्तक, भावुकों के हाथ में भगवद्गीता के समान, दैनंदिन पाठ का विषय बनेगी। पुस्तक हर आर्य के घर में रहने योग्य है।

—'परिव्राट्' मासिक

सन्ध्या विनय में, भक्ति-विभोर होकर जो प्रार्थनाएँ प्रस्तुत की गई हैं, वे बड़ी रोचक व हृदयहारिणी हैं। सन्ध्या के क्रम पर भी, अच्छा प्रकाश डाला गया है। पुस्तक पठनीय व मननीय है। सन्ध्या की ऐसी उपयोगी एवं गम्भीर व्याख्याओं की बहुत आवश्यकता है। —'आर्यमित्र'

पुस्तक सुन्दर, भक्तिभाव-पूर्ण एवं उपादेय है। नवयुवकों और नवयुवतियों को इसके पठन-मनन से पर्याप्त लाभ हो सकता है।

—'परोपकारी' मासिक

षष्ठ संस्करण की भूमिका

'सन्ध्या-विनय' का छठा संस्करण प्रकाशित हो रहा है, हमारे लिए यह खुशी की बात है। आर्य जनता ने, 'सन्ध्या-विनय' का यथोचित स्वागत किया है, इसी का यह फल है। इस स्नेह-सहृदयता के लिए, आर्य जनता के हम अतिशय आभारी हैं।

'सन्ध्या-विनय' में, वेद-मन्त्रों के भावों को, सरल, सुबोध और साहित्यिक भाषा में, प्रार्थना के रूप में, रखने का प्रयत्न किया गया है।

बहुत-से आर्य विद्वानों ने, 'सन्ध्या-विनय' के सम्बन्ध में अपने अभिप्राय व्यक्त कर, पुस्तक को लोक-प्रिय बनाने में सहायता दी है। हम उन सब का हार्दिक धन्यवाद करते है।

'सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्' ।।

२५ जून, १९६८ नित्यानन्द पटेल

'सन्ध्या' के मंत्रों का क्रम-सौन्दर्य

[नवधा-भक्ति का नया रूप]

'शांडिल्य सूत्र' में भक्ति का लक्षण निम्न प्रकार से किया गया है—

'सा (भक्तिः) परानुरक्तिरीश्वरे'

ईश्वर के प्रति परानुरक्ति अर्थात् निरतिशय प्रेम का नाम भक्ति है। भागवत के अनुसार भक्ति नौ प्रकार की है—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम् ॥"

(भागवत पुराण ७-५-२३)

भक्ति लोकहितकारिणी शक्ति है। मनुष्य की सम्पूर्ण रागात्मक वृत्तियों को विशुद्ध करने का यह एकमात्र साधन है। आनन्द अनुभव करते हुए, धर्म में प्रवृत्त होने का यह सुगम मार्ग है। इस लिए भक्ति-तत्त्व का, नये-नये शब्दों में, नये-नये ढंग से, जितना निरूपण किया जा सके, वह सर्व-सामान्य के लिए परम उपयोगी है। भागवतकार ने श्रवण,

कीर्तन, स्मरण आदि जिन नौ बातों को भक्ति में सम्मिलित किया है, उससे भक्ति-तत्त्व के समझने में अवश्य सुविधा होती है।

सैकड़ों वर्ष बीत गये। विचारों में क्रान्ति हुई। परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ। जीवन-पद्धति बदल गई। इस सब उलटफेर का अवलोकन करते हुए, महर्षि दयानन्द ने भक्ति-तत्त्व का, अधिक व्यापक और विस्पष्ट शब्दों में, निरूपण करना आवश्यक समझा। आज के तर्क-प्रधान और बुद्धि-जीवी लोग, जिस भाषा को समझते हैं उसी भाषा में, उन्होंने भक्ति के नौ अंग बताने का प्रयत्न किया है।

महर्षि की दृष्टि में, भक्ति कोई ऐसा कर्म नहीं, जिसे मन्दिरों में जा कर, कुछ घड़ी के लिए, किया जाय। भक्ति को उन्होंने जीवन के सम्पूर्ण व्यवहार के साथ गूँथ देने का प्रयत्न किया है। मानव-जीवन के सर्वांगीण विकास का ध्यान रखते हुए, ऋषि ने विशेष ढंग की भक्ति-पद्धति प्रारम्भ की है। इसके भी नौ अंग हैं। इनके सहारे क्रमिक उन्नति करता हुआ मनुष्य, अवश्य देव-तुल्य हो सकता है।

महर्षि प्रतिपादित भक्ति-पद्धति की यही

विशिष्टता है कि यह मानव-जीवन के सम्पूर्ण कार्य-क्रम को हमारे सम्मुख उपस्थित करती है। इसमें एक प्रकार की सुन्दर योजना है। योजनाबद्ध प्रगति से, मनोरथ शीघ्र और सम्पूर्ण रूप से सफल होता है, यह तो बिल्कुल स्पष्ट ही है।

महर्षि दयानन्द की भक्ति-पद्धति को 'सन्ध्या' में देखा जा सकता है। 'सन्ध्या' कोई नवीन वस्तु नहीं है। रामायण में, राम और सीता-माता के 'सन्ध्या' करने का, महर्षि वाल्मीकि ने कई स्थलों पर, प्रेम-पूर्वक निर्देश किया है। महर्षि दयानन्द ने उसी 'सन्ध्या' को पुनरुज्जीवित किया है।

'सन्ध्या' के लिए जिन मन्त्रों को चुना गया है, और उन्हें जिस सुन्दर क्रम से रखा गया है, उससे महर्षि की प्रज्ञा और प्रतिभा का ख्याल आये बिना रहता ही नहीं। जीवन के प्रति महर्षि की कैसी विशाल दृष्टि थी, तथा परब्रह्म के ध्यान अथवा प्रार्थना-उपासना का वे क्या अर्थ समझते थे, यह सब सन्ध्या के मन्त्रों में गुंथे भावों के समझने से स्पष्ट होता है।

शिखा-बन्धन—

सब से प्रथम गायत्री-मन्त्र से शिखाबन्धन है।

शिखाबन्धन का अभिप्राय सिर के अन्दर बिखरी हुई शक्तियों या वृत्तियों का बन्धन तो अलंकारमात्र है। बिखरी वृत्तियों के एकत्रीकरण का अर्थ यही है कि सन्ध्याकर्म में सम्पूर्ण मन से प्रवृत्त होना चाहिये। ढीले-ढाले मन से जो काम किया जाता है, उसमें कभी शक्ति नहीं आती। कर्म का रूपान्तर कर उसे दिव्य बना देने वाली श्रद्धा है। यही प्रथम आवश्यक है।

१. आचमनमन्त्रः— शान्ति-कामना :—

मुख्य सन्ध्या का प्रारम्भ 'शन्नो देवीः' इस आचमन-मन्त्र से होता है। इस मन्त्र से साधक अपना मन शान्त करने का प्रयत्न करता है। चंचलता उत्पन्न करने वाली, ईर्ष्या, द्वेष, भय, क्रोध आदि की सब वृत्तियों को, दृढ़ संकल्प और श्रद्धा से दूर करना चाहिये। प्रभु की गोद में बैठे को चिन्ता क्या ? भीति क्या ?

शीतल जल का आचमन, शान्ति की प्रार्थना को जीवित रूप देने के लिए ही है।

२. अङ्गस्पर्शमन्त्राः—यशोबलम् :—

चित्त के शान्त होने पर अंगस्पर्श के मन्त्रों से अपने अंगों का निरीक्षण करना है। परीक्षा यही

करनी है कि कोई अंग दुर्बल तो नहीं हो रहा ; अथवा कोई अंग, खराब कर्म में प्रवृत्त होने के कारण, अपयश का भागी तो नहीं हो रहा ।

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' निर्बल व्यक्ति परमात्मा की सच्ची उपासना नहीं कर सकता । जनता-जनार्दन की सेवा में अंगों का उपयोग ही उन्हें यशस्वी बनाने में समर्थ है ।

३. मार्जनमन्त्राः—पवित्रता-सम्पादन :—

आत्म-निरीक्षण के पीछे मार्जन मन्त्रों से परमात्मा के सत्य, सुखप्रदता, महानता, तप आदि गुणों का स्मरण करना है और उनका शरीर के विभिन्न अंगों में आधान करना है । **परमेश्वर के गुणों का विशेष आधान ही पवित्रता है ।**

४. प्राणायाममन्त्राः—

मार्जन की पूर्णता के लिए प्राणायाम है । विभिन्न अंगों में परमेश्वर के गुणों की जड़ पूर्णतः जमी नहीं । तब प्राणायाम मन्त्र से, प्राणायाम द्वारा मन को शान्त तथा शक्तिपूर्ण बनाकर, इन्द्रियों के दोषों को दूर करने और परमेश्वर के गुणों का आधान करने का फिर से प्रयत्न है । पंचशिखाचार्य का कथन है :—

तपो न परं प्राणायामात्,
ततो विशुद्धिर्मलानां, दीप्तिश्च ज्ञानस्य ।

यहाँ तक तो कृत पापों के संस्कार की निवृत्ति का यत्न हुआ।

५. अघमर्षणमन्त्राः—पाप-उन्मूलन :—

अघमर्षण मन्त्रों से अब अनागत पापों की प्रवृत्ति के दलन का प्रयत्न है। इन मन्त्रों में, सृष्टि तथा प्रलय के वर्णन द्वारा, परमेश्वर की सृजन और संहार की अलौकिक शक्ति का साक्षात्कार कराया गया है। महत्त्व का प्रत्यक्ष दर्शन, सब अहंकार और अवसाद को क्षणभर में गला देता है। **सब पापों को जड़ अहंकार और अवसाद ही है।** जड़ ही न रही, तो पाप कैसे फले-फूलेगा ? पाप का पूर्ण दलन ही, प्रभु-पूजा की प्रस्तावना है।

अन्तःकरण की पवित्रता, परब्रह्म की प्राप्ति का साधन है। इसीलिए सन्ध्या के प्रारम्भ में चित्त-शुद्धि का इतना आग्रह है।

६. मनसापरिक्रमामन्त्राः—

साधक अब पवित्र मन से, मनसा-परिक्रमा के मन्त्रों द्वारा, छः व्रतों को धारण करता है। जीवन

के सर्वांगीरण विकास अथवा श्रेय-साधना के लिए, जिन दिशाओं में प्रगति करनी है उनका संकेत इन मन्त्रों में है।

प्राची दिक्—उन्नति की ओर :—

सब से प्रथम आगे बढ़ने की महत्त्वाकांक्षा है। भगवान् को दी हुई ज्ञान-विज्ञान की शक्तियों का समुचित विकास कर, उसके हाथ का योग्य निमित्त बनने का संकल्प करना है।

दक्षिणा दिक्—ऐश्वर्य-प्राप्ति :—

आगे बढ़ने की अभीप्सा और तदनुकूल पुरुषार्थ से अनेक प्रकार का ऐश्वर्य, सामर्थ्य और समृद्धि प्राप्त होती है। **साधना ही ऋद्धि-सिद्धि का द्वार है।**

प्रतीची दिक्—अनासक्त-वृत्ति :—

सुखोपभोग के सब साधन उपलब्ध होने पर भी व्यसनों से दूर रहने से ही, आत्मा शक्तिशाली और परमेश्वर के तेज को ग्रहण करने योग्य बनती है। व्यसनों से दूर रहने और प्रभु-कृपा से प्राप्त सुख-समृद्धि का, पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए, वितरण करने का नाम ही विरक्ति अथवा अनासक्ति है।

उदीची दिक्—शान्तिप्राप्ति :—

इस अनासक्ति से सच्ची शान्ति का आनन्द आत्मा में समाने लगता है। दीन-दुखियों के दुःख निवारण करने के लिए, अपने सुख और ऐश्वर्य के त्याग में ही असली शान्ति है। भगवान् कृष्ण के शब्दों में—

"त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्"

ध्रुवा दिक्—स्थिरता :—

शान्ति के आनन्द की उपलब्धि से, श्रेय-प्राप्ति के कठिन मार्ग में, श्रद्धा दृढ़ होने लगती है। ऊँची-से-ऊँची चढ़ाइयों पर चढ़ने का उत्साह उत्पन्न होता है।

ऊर्ध्वा दिक्—उन्नति के शिखर पर :—

साधक, स्थिरता से क्या सम्पादन नहीं कर सकता? निष्ठा सब निराशाओं को जीतने वाली और सब आघातों को सहन करने वाली है। परिणामस्वरूप सब विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करता हुआ साधक अब उन्नति के शिखर पर पहुँचता है।

७. उपस्थानमन्त्राः—

पृथ्वी की पीठ से उठकर साधक पहाड़ की

उच्चतम चोटी पर पहुँचा है। वह अब परमेश्वर के उप+स्थान–समीप बैठा है। वह प्यासी आँखों से, भगवान् के अलौकिक रूप और ऐश्वर्य का पान कर रहा है। इस रूप-सुधा के पान से, साधक के हृदय में आनन्द की कैसी उमंगें उठ रही हैं तथा वाणी से कैसे पावन उद्गार फूट पड़ रहे हैं, यह उपस्थान के मन्त्रों में देखा जा सकता है।

प्रियतम के पास :—उन्नति के शिखर पर पहुँच कर साधक, 'देवत्रादेवं' देवाधिदेव की समीपता का उल्लास अनुभव करता है।

मधुर झाँकी :—सुनहली किरणें साधक के गात्र का अब स्पर्श करने लगीं। उसके सौंदर्य, सामर्थ्य, ज्ञान और प्रेम की ओर संकेत करने वाली झण्डियाँ–'केतवः'–पकड़ते हुए, साधक प्रभु के व्योमचुम्बी राजमहल में पहुँचा है। आँखें चार हो रही हैं, स्नेहाश्रु उमड़ रहे हैं।

साक्षात् दर्शन :—आँखमिचौनी हो ली। विराट् अब अपना रूप अनावृत कर रहे हैं। पलकों में उनकी मधुर ज्योति समा रही है, जिससे सम्पूर्ण पृथ्वी उससे आपूर्ण नज़र आ रही है। जो देखा है वह 'चित्रम्' है।

मिलन :—उपासक 'देवहितं' के चरणारविन्दों को, अपनी छाती से लिपटा लेता है। उसे अमूल्य निधि मिल गई है। वह अब सर्वथा 'अदीन'–ऐश्वर्य-सम्पन्न–है, क्योंकि हृदय में अनिवर्चनीय आनन्द लहरा रहा है।

८. **गुरुमन्त्र:**—ब्रह्मरूप धारण :—

उपस्थान के पीछे, उपासक गायत्री-मन्त्र द्वारा सवितादेव की रूप-सुधा का पान कर रहा है। इससे वह नवजीवन प्राप्त कर रहा है। वह अमृत बन रहा है। सम्पूर्ण-रूप से उसका रूपान्तर हो रहा है। ब्रह्मसदृश वह भी ज्ञानमय, प्रेममय, दया-मय और धर्ममय हो रहा है। वह अब अल्प नहीं, 'भूमा' है। उसके आनन्द की कोई अवधि नहीं।

९. **समर्पणमन्त्र:**—समर्पण :—

अन्त में 'नमस्कार मन्त्र' द्वारा, भक्त अपनी सब ऋद्धि-सिद्धि का, भगवान् शंकर के चरणों में नम्र-भाव से अर्पण करता है। विश्व के कल्याण के लिए जीवन सौंपने के निश्चय का नाम ही नमन है। **इस नमन से पूजा की पूर्णता होती है।**

भूतल पर अवतीर्ण मनुष्य के पूर्ण विकास के

लिए, आवश्यक कर्तव्य-कर्मों की यह कैसी सुसंगत तालिका है ! पृथ्वी पर रींगते मनुष्य को, परम-पद तक पहुँचाने के लिए यह कैसी अपूर्व सीढ़ी है !! मानव को देव बनाना, यही इसका उद्देश्य है। पुराणों में प्रतिपादित 'नवधाभक्ति' का यह नवीन संस्करण है।

'सन्ध्या' के इन नौ अंगों में गुंथे हुए विचारों का चिन्तन, मनन और उन्हें जीवन में ढालने के निरन्तर प्रयत्न का नाम ही, परब्रह्म का ध्यान, भक्ति, प्रार्थना एवं उपासना है।

स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सन्ध्या आदि का अर्थ

[महर्षि दयानन्द के मनन योग्य विचार]

स्तुति—

परमेश्वर की स्तुति का अर्थ परमेश्वर के गुण (ज्ञान, सामर्थ्य, प्रेम, दया आदि) और उपकार का ध्यान और स्मरण करना है।

प्रार्थना—

सब उत्तम कामों में, परमेश्वर की सहायता चाहना, प्रार्थना है। जैसा कि ईश्वर ने, सब पदार्थों की रचना-उत्पत्ति करके, सब जगत् का उपकार किया है, वैसे ही हम लोग भी सब का उपकार करें। इस काम में परमेश्वर हमको सहायता करें, जिससे हम लोग सब को सदा सुख देते रहें। [सदा सुख देना ही महर्षि की दृष्टि में उपकार है अथवा उत्तम काम है। इस काम में परमेश्वर की मदद माँगना प्रार्थना है।]

उपासना—

ईश्वर की उपासना दो प्रकार की है—एक सगुण और दूसरी निर्गुण।

सगुणोपासना—ईश्वर सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, चेतन, व्यापक, अन्तर्यामी, सब का उत्पादक, धारण करने हारा, मङ्गलमय, शुद्ध, सनातन, ज्ञान और आनन्द-स्वरूप है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थों का देने वाला, सब का पिता, माता, बन्धु, मित्र, राजा और न्यायाधीश इत्यादि है। गुण-विचारपूर्वक ईश्वर की उपासना करने का नाम सगुणोपासना है।

निर्गुणोपासना—निर्गुणोपासना इस प्रकार करनी चाहिये—ईश्वर अनादि, अनन्त, अजन्मा, अमर्त्य, निराकार और निर्विकार है; अर्थात् ईश्वर का आदि नहीं, अन्त नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं, आकार नहीं, उसमें विकार नहीं। उसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, अन्याय, अधर्म, रोग, दोष, अज्ञान और मलिनता नहीं है। उसका छेदन, बन्धन, इन्द्रियों से दर्शन, ग्रहण और कम्पन नहीं होता। वह ह्रस्व, दीर्घ और शोकातुर कभी नहीं

होता। उसको भूख, प्यास, शीतोष्ण, हर्ष और शोक कभी नहीं होते। वह उल्टा काम कभी नहीं करता, इत्यादि। इस प्रकार जगत् के गुणों से ईश्वर को अलग जान के जो ध्यान करना है, वह निर्गुणोपासना कहाती है।

'सन्ध्या' (सम्यक् ध्यान) के लिए आवश्यक शर्तः–

महर्षि दयानन्द के शब्दों में—

'आदौ शरीर-शुद्धिः कर्त्तव्या। सा बाह्या जलादिना, आभ्यन्तरा रागद्वेषासत्यादित्यागेन ॥'

अर्थात् सन्ध्या से पूर्व शरीर-शुद्धि करनी चाहिये। यह शुद्धि दो प्रकार की है—

१—बाह्य और २–आभ्यन्तर। बाह्यशुद्धि जलादि से तथा आभ्यन्तर शुद्धि रागद्वेष और असत्य आदि के त्याग से होती है।

'शरीर शुद्धेस्सकाशादात्मान्तःकरणशुद्धिरवश्यं सर्वैस्सम्पादनीया; तस्यास्सर्वोत्कृष्टत्वात् परब्रह्म-प्राप्त्येकसाधनत्वाच्च।'

बाह्य शुद्धि की अपेक्षा आभ्यन्तर शुद्धि अधिक आवश्यक है, क्योंकि परमेश्वर-प्राप्ति का वही एकमात्र साधन है। इसलिए अन्तःकरण की शुद्धि सब को अवश्य करनी चाहिये।

सन्ध्या विनय

'अहरहः सन्ध्यामुपासीत'

प्रतिदिन परमेश्वर के गुणों का ध्यान व विचार करे और उन गुणों को धारण करने का प्रयत्न करे।

सन्ध्या का शब्दार्थ—'सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म यस्यां सा सन्ध्या'। [महर्षि दयानन्द]

अर्थात्—जिसमें परमेश्वर का भली-भाँति ध्यान किया जाय वह सन्ध्या है।

सन्ध्याहीनो ऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।
यदन्यत् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग् भवेत् ॥

[दक्ष स्मृति, २-२०]

अर्थात्—सन्ध्या न करने वाले का अन्तःकरण पवित्र नहीं होता और इसीलिये वह अपने कर्मों में सफलता प्राप्त नहीं करता।

आचमन मन्त्र

[अम्बरीषस्य राज्ञः पुत्रः सिन्धु-द्वीप ऋषिः, आपो देवता,—गायत्री छन्दः]

ओं शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्रवन्तु नः॥

(यजु० अ० ३६ मं० १२)

[विधि—इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके तीन आचमन करे। आचमन का प्रयोजन आलस्य तथा गले के कफ़ आदि की निवृत्ति है।]

शब्दार्थ

(देवीः-आपः) न्याय, दया, परोपकार, प्रेम आदि दिव्य गुणों से युक्त, सब को आनन्द देने वाला, इच्छाओं को तृप्त करने वाला, सर्वव्यापक परमेश्वर, **(अभिष्टये)** मनोवांच्छित **(पीतये)** आनन्द-प्राप्ति के लिए **(नः-शं-भवन्तु)** हमें—शान्तिदायक हो।

वही परमेश्वर **(नः)** हम पर **(शंयोः)** सुख-शान्ति की **(अभि-स्रवन्तु)** चारों ओर से वृष्टि करे।

आपः—'आपः' शब्द **'आप्लृ व्याप्तौ'** धातु से बना है। परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, इसीलिए उसका नाम **'आपः'** है।

'आपः' शब्द **'आप्लृ लम्भने'** धातु से भी सिद्ध हो सकता है। परमात्मा सब कामनाओं को प्राप्त कराने वाला है, इसलिए भी उसका नाम 'आपः' है।

शांति-कामना

विनय

हे दयामय ! तुम अनन्त काल से अपने उपकारों की वृष्टि किये जाते हो। इस वृष्टि से, प्राणिमात्र की असंख्यों कामनाएँ, प्रतिक्षण पूर्ण हो रही हैं। जिन कामनाओं का पूर्ण होना हमारे लिए हितकर है, वे तुम्हारी कृपा से पूर्ण हो ही रही हैं। फिर अनेक कामनाओं के सेवन का लाभ क्या ?

हे करुणानिधान ! तेरी कल्याण-कामना में विश्वास दृढ़ होने दे। यह मिले, वह मिले, इतना मिले, उतना मिले की असंख्यों इच्छाएँ मन को अशान्त-चंचल बना देती हैं। तुम्हारी शुभेच्छा पर श्रद्धा रख कर, फल सर्वात्मना तुम्हारे हाथ छोड़ दें; और अपना सम्पूर्ण ध्यान, अपने कर्तव्यों को विशुद्ध-भाव एवं कुशलतापूर्वक करने की ओर केन्द्रित करें, तो फिर शान्ति ही शान्ति है।

हे सर्वान्तर्यामिन् ! हमारे हृदय की सब विकार-वासनाओं को, तुम जानते हो। तुम्हारे नियमों का हम कितना भंग करते हैं, प्रतिक्षण कितना अपकार करते हैं, और कितनी अकृतज्ञता बताते हैं ? तुम्हारा

स्वर्गोपम सृष्टि को, हम अपने अपकृत्यों से, कितना कलंकित करते हैं ? यह सब देखते हुए भी, हमें अबोध जान, तुम शान्त बने रहते हो।

हे जगदम्बे ! तुम्हारा हृदय सदैव स्नेह और वात्सल्य से पूर्ण है। हमारी अवज्ञाओं पर तुम ध्यान नहीं देते। तुम्हारी क्षमा असीम है, सहिष्णुता अनुपम है। हे स्नेहनिधे ! अपने स्नेह का कण दे, अपने शान्ति-सिन्धु का बिन्दु दे, जिससे हम ज़रा से अपकार से क्षुब्ध-विक्षुब्ध न हो उठें; नगण्य-सी अवगणना का स्मरण कर सम्पूर्ण शान्ति, जब-तब, गँवा न बैठें।

हे मेरे जीवनसार ! तुम ही असली वरेण्य हो। तुम्हारे दर्शन और मिलन में, जो तृप्ति और आनन्द है, वह शाश्वत और अपरिछिन्न है। सांसारिक पदार्थों से प्राप्त होने वाला सुख, आंशिक और अस्थायी है। मनोवांछित तृप्ति और पूर्ण आनन्द की प्राप्ति इनसे सम्भव नहीं, यह समझते हुए हम तेरी (धर्म की) शरण आते हैं। अपने चरणों में हमें स्थान दे। घट-घट में तुम्हारी दिव्य ज्योति और महिमा का हमें साक्षात्कार होने दे। इस दिव्य-दर्शन से हमें अधिकाधिक आकर्षित होने दे, अन्तर

को रस से परितृप्त होने दे, आत्मा को आनन्द-विभोर होने दे।

राग-द्वेष से अन्धी बनी आँखों से, तुम्हारा दर्शन हो नहीं सकता। स्वार्थ, लोभ, ईर्ष्या, अहंकार आदि की कलुष भावनाएँ, जब तक चित्त में डेरा जमाए बैठी हैं, तब तक तुम्हारा ध्यान, चिन्तन, स्मरण आदि सम्भव ही नहीं है। सब अशुभ वृत्तियाँ, चित्त को चंचल, अशान्त, चिन्ताग्रस्त, बेचैन और भय-ग्रस्त बना देती हैं। किसी को नीचा दिखाने की, और किसी से बदला लेने की चिन्ता में पड़ा हुआ मन, वह शान्ति अनुभव नहीं कर सकता जो तुम्हारी पूजा, अर्चना और उपासना के लिए प्रथम आवश्यक है। इसलिए हे परमशान्त ! चित्त को क्षुब्ध-विक्षुब्ध बनाने वाले सब विकारों और वास-नाओं को शान्त कर। शान्ति प्राप्त करने के लिए हम उत्सुक हैं, अविचल शान्ति के लिए मुँह उठाए हुए हैं।

शान्ति के ओ दिव्यमेघ ! बरसो; सहस्रों धाराओं में बरसो। सब ओर शान्ति की धाराएँ प्रवाहित होने दे। सब के साथ आत्मीयता, विश्व के साथ मैत्री, पड़ोसियों की सुख-समृद्धि में प्रफुल्लता,

दीन-दुखियों के प्रति करुणा, और नासमझों के प्रति उपेक्षा की भावनाएँ, चित्त में, विकसित और परिपुष्ट होने दे। शान्ति की यही दिव्य धाराएँ हैं। हमारे भीतर-बाहर इन धाराओं को निरन्तर प्रवाहित होने दे, हमारे रोम-रोम में शान्ति समा जाने दे।

हमारी प्रबल आकांक्षा है, चिरकाल से तुम्हारी प्रतीक्षा है, शान्ति की दिव्य धाराओ ! आओ; हमारी पिपासा बुझा जाओ, सात्त्विक वृत्ति जगा जाओ; आन्तरिक अशान्ति मिटा जाओ, सब कहीं प्रफुल्लता फैला जाओ।

—०—

'न चाभावयतः शान्तिः'। गीता० २-६६

जिसने मन को मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि सद्भावों से भर न लिया हो, वह बेचैन रहता है।

'जिसे हम सही और शुभ मानें वही करने में हमारा सुख है, शान्ति है।'

—म० गांधी

[२]

इन्द्रियस्पर्श मन्त्र

ओं वाक् वाक्, ओं प्राणः प्राणः ।
ओं चक्षुः चक्षुः, ओं श्रोत्रं श्रोत्रं।
ओं नाभिः । ओं हृदयम् ।
ओं कण्ठः । ओं शिरः ।
ओं बाहुभ्यां यशोबलम् ।
ओं करतलकरपृष्ठे ॥

[विधि—ईश्वर-प्रार्थनापूर्वक इन्द्रियों का स्पर्श करे। इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की प्रार्थना से सब इन्द्रियां बलवान् रहें।]

शब्दार्थ

(ओं) हे परमात्मन् ! (वाक् वाक्) मेरी वाणी (यशोबलम्) यश और बल से युक्त हो। हे परमात्मन् ! (प्राणः प्राणः) मेरी नासिका (यशोबलम्) यश और बल से युक्त हो। हे परमात्मन् ! मेरी आँखें, मेरे कान, मेरी नाभि, मेरा कंठ, मेरा सिर, मेरी दोनों भुजाएँ, मेरी हथेली और हाथ की पीठ, ये सब इन्द्रियाँ तथा अङ्ग, यश और बल से युक्त हों।

यशोबलम्

विनय

हे सर्वशक्तिमान् प्रभो ! यह विशाल ब्रह्माण्ड तुम्हारे बल, शक्ति तथा सामर्थ्य का परिचय दे रहा है। ऊँचे खड़े पहाड़ और दिग्दिगन्त तक फैले हुए समुद्र, तुम्हारी महिमा का ही अनवरत कीर्तन कर रहे हैं।

हे महाबली ! हम तेरे द्वार पर झोली पसारे हुए, बल की भिक्षा माँगते हैं। दुर्बलता सबसे बड़ा पाप है। बलहीन व्यक्ति, विविध व्याधि और विकारों का आसानी से शिकार बनता है। वह न स्वधर्म का पालन कर सकता है, और न तुम्हारी इच्छा पूर्ण कर सकता है। व्याधि और विकार तुम्हारी पूजा में, प्रबल विक्षेप-रूप हैं। इसलिए हे बल-स्वरूप ! हमें बल की भिक्षा दो। हम बलिष्ठ और सुदृढ़ हों, जिससे तुम्हारी सच्ची पूजा कर सकें और प्रीति प्राप्त कर सकें।

हे अनन्त बलों के भण्डार ! हमारी वाणी और भुजाओं में बल हो। हमारे हृदय और

मस्तिष्क सबल हों। आँख, कान आदि सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ समर्थ हों। युक्त आहार-विहार, व्यायाम और प्राणायाम आदि से, इस देवमन्दिर का एक-एक अङ्ग, सुघड़ और परिपुष्ट हो। काम, क्रोध आदि विकारों को संयम में रखते हुए, इसके प्रत्येक अङ्ग को, शक्ति और स्फूर्ति के मूल स्रोत वीर्य से ऐसा सिंचित करें, कि धूप, वर्षा, तूफ़ान आदि के बीच में भी यह अडिग रह सके और सौ वर्ष तक अक्षुण्णरूप से अपना कार्य करने में समर्थ हो सके।

हे परम-दृढ़ ! हमें अडिग और दृढ़ बना। उद्धत और अभिमानी के सामने, हम अपने घुटने कभी न टेकें। हृदय में बल दे, जिससे अन्याय और उत्पीड़न के विरोध में, हम आवाज़ उठा सकें।

हे जगदाधार ! मानव-शरीर, असाधारण कर्म करने के लिए मिला है। तुमने जो साधन और बल-वीर्य दिये हैं, उनका यदि हम सदुपयोग करें, तो हमारे हाथों ऐसा कर्म ज़रूर हो सकता है, जो साधारण जनों के लिये अशक्य हो। हे प्रभो ! यश, ख्याति और कीर्ति आदि सब, ऐसे असाधारण कर्म के ही उपहार हैं।

हे अशरण-शरण ! हम दुर्बलों की रक्षा करें, पीड़ितों की पीड़ा हरें। हमारे बल-वीर्य का, सबको सहारा हो। समय पड़ने पर, अड़ोसी-पड़ोसियों की हम सहायता करें। भयों को दूर करें, भरोसा उत्पन्न करें। आसपास के स्थान को, अपने बल-वीर्य से, स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करें।

संसार की सुख-समृद्धि में वृद्धि करना ही शुभ कर्म है। यही जप है, यही तप है। यही वह असाधारण कर्म है, जिसे पूर्ण करने के लिए, तुमने मानव-शरीर का वरदान हमें दिया है। दुखितों के आँसू पोंछना, तथा अपने सम्पर्क में आने वालों को हँसमुख बनाना ही, तुम्हारी सच्ची पूजा एवं अर्चना है। यही तुम्हारी इच्छा और व्रत है।

हे सर्वशक्तिसम्पन्न ! हमें बल दे, जिससे तुम्हारी कृपा से प्राप्त किये बल-वीर्य को, हम तुम्हारी इच्छा और व्रत के पूर्ण करने में अर्पण कर सकें। अपने सुदृढ़ अंगों और इन्द्रियों को स्वार्थ-साधन में नहीं, परन्तु तुम्हारी पूजा और अर्चना में प्रेमपूर्वक अर्पण करने का हमें बल दे, वरदान दे।

'शरीर का नीरोग या दीर्घायु होना, विषय-रहित होने का छोटे-से-छोटा परिणाम है।' —म० गांधी

[३]

मार्जन मंत्र

ओं भूः पुनातु शिरसि ।
ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः ।
ओं स्वः पुनातु कण्ठे ।
ओं महः पुनातु हृदये ।
ओं जनः पुनातु नाभ्याम् ।
ओं तपः पुनातु पादयोः ।
ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि ।
ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

[विधि—इस मन्त्र से, मध्यमा और अनामिका अंगुली के अग्रभाग से, नेत्रादि अंगों पर जल छिड़के। इससे आलस्य दूर होता है। जो आलस्य न हो, अथवा जल प्राप्त न हो, तो ,यह विधि छोड़ी जा सकती है।]

शब्दार्थ

(**भूः**) सत्स्वरूप व प्राणस्धरूप प्रभु (**शिरसि**) मस्तिष्क में (**पुनातु**) पवित्रता करे।

(**भुवः**) चित्-स्वरूप व ज्ञानस्वरूप प्रभु (**नेत्रयोः**) नेत्रों–ज्ञानेन्द्रियों–में (**पुनातु**) पवित्रता करे।

(**स्वः**) सुखस्वरूप और सुखप्रदाता प्रभु (**कण्ठे**) कण्ठ में (**पुनातु**) पवित्रता करे।

(**महः**) महान् प्रभु (**हृदये**) हृदय में (**पुनातु**) पवित्रता करे।

(**जनः**) सबको उत्पन्न करने वाला प्रभु (**नाभ्यां**) नाभि–जनन शक्ति के केन्द्र–में (**पुनातु**) पवित्रता करे।

(**तपः**) दुष्टों को सन्तापकारी प्रभु (**पादयोः**) पैरों में (**पुनातु**) पवित्रता करे।

(**सत्यं**) सत्यस्वरूप प्रभु (**पुनः**) फिर (**शिरसि**) सिर में (**पुनातु**) पवित्रता करे।

(**खं**) आकाश की तरह व्यापक (**ब्रह्म**) महान् प्रभु (**सर्वत्र**) सब अङ्गों में (**पुनातु**) पवित्रता करे।

पवित्रता-सम्पादन

विनय

मेरे मन्दिर के उजियारे, हे मेरे आराध्यदेव ! तुम्हारे आगमन की तैयारी में, मैं अपने मन्दिर के कोने-कोने को झाड़-पोंछकर साफ़ करता हूँ। तुम आओगे, मुझे कृतार्थ करोगे, यह पनपती आशा, मेरे अङ्ग-अङ्ग में नवीन उमंग भर देती है। अपने मन्दिर का, मैं आज, ऐसा मार्जन किया चाहता हूँ कि इसका एक-एक अंग जगमगा उठे। प्रत्येक वस्तु को, मैं अपने स्थान पर सजाऊँगा। धूप और पुष्पों से इसे सुवासित और सुशोभित बनाऊँगा।

हे सत्यस्वरूप ! हे प्राणों के प्राण ! इस मन्दिर का शीर्षस्थान मस्तिष्क है। इसकी स्वस्थता और विशुद्धता पर ही, विभिन्न अंगों की स्वस्थता और विशुद्धता निर्भर है। हे प्रभो ! सबसे प्रथम यही प्रार्थना है कि हमारे मस्तिष्क में, सद्‌विचारों और शुभसंकल्पों की पावन सरिता निरन्तर प्रवाहित हो। विचारों में स्वस्थता और

प्राण हो, आशा और विश्वास से ये सबल हों। हमसे कुछ नहीं हो सकता, इस प्रकार के दीनता और दुर्बलता के विचार दूर हों। तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने, धर्म का राज्य स्थापित करने, और सृष्टि को स्वर्ग बनाने के उदात्त विचारों से, मस्तिष्क उज्ज्वल हो।

हे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन् ! हमारी आँख, कान इत्यादि सकल ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान की कथाएँ कहती रहें, निशिदिन ज्ञान के सञ्चय में लगी रहें और मस्तिष्क को अपनी ज्ञान की धाराओं से भरती रहें। हमारी ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानमार्ग से भटकने की, कुमार्ग में जाने की और अपवित्र होने की फुर्सत न हो।

आनन्द और मंगल की वर्षा करने वाले हे प्रभो ! हमारी वाणी शहद-सी मीठी, सुख उपजाने वाली, ज्ञान का प्रकाश करने वाली और चहुँ ओर कल्याण का प्रसार करने वाली हो।

हे परम महान् ! हमारे हृदय में महानता और विशालता का निवास हो। एकमात्र अपने सुख को देखने वाली स्वार्थ-वृत्ति और संकीर्णता दूर हों। अपने और पराये का भेद खड़ा करने वाले राग-

द्वेष क्षीण हों। आत्मीयता की उदार भावना का विकास हो, प्राणिमात्र के प्रति प्रेम से हमारे हृदय महान् और विशुद्ध हों।

द्युलोक और पृथ्वी-लोक के हे सर्जनहार ! हम में वीर सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति हो। वीर्य के संरक्षण द्वारा हमारी उत्पादन-शक्ति समर्थ और पवित्र हो। अनियंत्रित भोग का फल रोग और ग्लानि है। ब्रह्मचर्य का फल मस्ती और प्रफुल्लता है। चित्त की प्रफुल्लता, हृदय-विस्तार में सहायक है। मौलिक विचारों और मधुर कल्पनाओं की यही जन्मभूमि है।

हे तपोमय ! यह सृष्टि तुम्हारे अथक तप की ही कथा है। अपने तप का अंश दे, जिससे हमारे पैर पवित्र हों, सम्पूर्ण आचरण निर्मल हो। आच-रण को अपवित्र करने वाले राग-द्वेष ही हैं। इन पर विजय पाने के लिए, सतत एवं मनोयोगपूर्वक श्रम करने का नाम ही तप है।

हे महतो-महीयान् ! तुम्हारी सर्वव्यापकता और महानता के संस्पर्श से, हम दिन-दिन बृहत्, प्रगतिशील, व्यापक और विशाल बनें। क्षुद्रता, संकीर्णता, कृपणता और प्रमाद दूर हों। व्यापकता

और वृद्धि-शीलता यह हमारा जीवन-सूत्र हो। उदारता और पुरुषार्थ से हमारा प्रत्येक अंग पवित्र और परिमार्जित हो।

हे मेरे आराध्य देव! तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा में मन्दिर का यह सब मार्जन है। तुमसे मिलने की चिरकाल से अभिलाषा है। हमारा स्नेहभरा स्वागत-सत्कार तुम कब स्वीकार करोगे?

'पूर्ण शुद्ध बनने का अर्थ है, मन से, वचन से, और काम से निर्विकार बनना; राग-द्वेषादि के परस्पर-विरोधी प्रवाहों से ऊपर उठना।' —म० गांधी

'जवानी विकारों को जीतने के लिए मिली है। उसे हम व्यर्थ ही न जाने दें।' —म० गांधी

[४]

प्राणायाम मन्त्र

**ओं भूः। ओं भुवः। ओं स्वः। ओं महः।
ओं जनः। ओं तपः। ओं सत्यम्।**

(तैत्ति० आ० प्रपा० १०। अनु० २७)

[**विधि**—प्राणायाम मन्त्रों का अर्थ विचारपूर्वक उच्चारण करते हुए प्राणायाम करे। कम-से-कम तीन और अधिक-से-अधिक इक्कीस प्राणायाम करे।]

शब्दार्थ

(**ओं-भूः**) परमेश्वर हम सबका प्राणरूप है। (**ओं-भुवः**) परमेश्वर दुःख दूर करने वाला है। (**ओं-स्वः**) परमेश्वर सुख स्वरूप और सुख प्रदान करने वाला है। (**ओं-महः**) परमेश्वर महान् व पूज्य है। (**ओं-जनः**) परमेश्वर सबका जनक और उत्पादक है। (**ओं-तपः**) परमेश्वर दुष्टों को सन्ताप देने वाला है। (**ओं-सत्यं**) परमेश्वर सत्य-रूप है।

भूः, भुवः, स्वः आदि सात व्याहृतियाँ हैं। इन सात शब्दों द्वारा, मानो, मानव-जीवन के लक्ष्य का, संक्षेप से, व्याहरण—कथन—किया गया है :—

मनुष्य ! तू प्राणशक्ति-सम्पन्न, विचारशील, ज्ञानवान्, सुख प्रदान करने वाला, जितेन्द्रिय, विशाल हृदय वाला, सृजन करने वाला, तपस्वी, और सत्य में स्थिर, बन।

[५]

अघमर्षण मन्त्र

[ऋषिः—माधुच्छन्दसोऽघमर्षणः, देवता—भाववृत्तम्, छन्दोऽनुष्टुप्]

ओ३म् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥
सूर्य्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

(ऋ० मण्डल १०, सू० १९०, मन्त्र १, २, ३)

[विधि—सृष्टिकर्त्ता परमात्मा और सृष्टि-क्रम का विचार इन मन्त्रों से करे। जगदीश्वर को सर्वव्यापक, न्यायकारी, सब जीवों के कर्मों का द्रष्टा निश्चित रूप से मानकर, पाप की ओर अपनी आत्मा और मन को कभी न जाने देवे, किन्तु सदा धर्मयुक्त कर्मों में वर्तमान रक्खे।]

शब्दार्थ

(**ऋतं**) प्राकृतिक नियम (**सत्यं**) जीव-सम्बन्धी-नैतिक सामाजिक आदि-नियम (**अभीद्धात्**) सब ओर से प्रकाशमान (**तपसः**) तपोमय-ज्ञानमय-परमेश्वर से (**अध्यजायत**) उत्पन्न हुए। (**ततः**) उसी ईश्वर से (**रात्रिः**) महारात्रि-प्रलय (**अजायत**) उत्पन्न हुई (**ततः**) उस प्रभु से ही (**समुद्रः**) समुद्र (**अर्णवः**) जल वाला हुआ। १।

(**अर्णवात्**) जल वाले (**समुद्रात्**) समुद्र से (**अधि**) पीछे (**संवत्सरः**) क्षरण, मुहूर्त्त, प्रहर विशिष्ट काल (**अजायत**) उत्पन्न हुआ। (**विश्वस्य**) समस्त (**मिषतः**) निमेषोन्मेष अर्थात् हरक़त करने वाले प्राणी जगत् को (**वशी**) वश में रखनें वाले परमेश्वर नें (**अहोरात्राणि**) दिन-रात को (**विदधत्**) बनाया। २।

(**धाता**) संसार को धारण करने वाले परमेश्वर ने (**सूर्याचन्द्रमसौ**) सूर्य और चन्द्रमा को (**यथापूर्वम्**) पूर्व सृष्टि के समान (**अकल्पयत्**) बनाया। (**दिवं-पृथिवीं-अंतरिक्षं च**) द्युलोक, पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक (**अथो**) और (**स्वः**) स्वर्गलोक को भी, उस प्रभ ने रचा। ३।

पाप-उन्मूलन

विनय

हे विराट् ! जीव के यथायोग्य विकास एवं श्रेय-साधन के लिए, तुमने अपने अनन्त ज्ञान और शक्ति से, इस सुन्दर सृष्टि की रचना की है। हे विश्वनियन्ता ! अपनी जीवनयात्रा में, सृष्टि-रचना के तुम्हारे इस उद्देश्य को हम न भूलें; सांसारिक सुख-भोगों के संग्रह को ही जीवन-सर्वस्व समझ लेने की भूल, हम न कर बैठें।

हे करुणानिधान ! तुम्हारी अनुकम्पा से सुख-समृद्धि, उच्चपद और ऐश्वर्य मिलने पर, हम अपने समान किसी को समझते ही नहीं। सत्कार-योग्य पुरुषों से द्वेष, तथा दयापात्रों से घृणा करते हैं। किसी का गुण हम देख पाते नहीं, किसी की सेवा से सन्तुष्ट होते नहीं। दूसरों के सुख-सम्मान को कुचलना, अपना अधिकार समझते हैं। ईर्ष्या, द्वेष और घृणा के वश हो, हम अनेक पाप करते हैं, तुम्हारी स्वर्गोपम सृष्टि को नरक बनाते हैं।

हे जगन्नियन्ता ! सृष्टि संघर्ष-स्थली है।

प्रत्येक विजय के लिए पुरुषार्थ यहाँ आवश्यक है। पुरुषार्थ करते हुए भी, अपने मनोरथ पूर्ण करने में, हम बहुत बार विफल होते हैं। जीवन के ऐसे क्षणों में, हम अपने को दीन-हीन समझने लगते हैं। आशा का दीप बुझ जाता है, आँखों में अंधकार छाने लगता है; महत्त्वाकांक्षा मुरझा जाती है, कल्पना के पंख टूट जाते हैं। पृथ्वी पर पड़े रहने के सिवाय, हमसे कुछ हो ही नहीं सकता, हम ऐसा मानने लगते हैं। घोर निराशा और अवसाद की यह स्थिति, अनेक प्रकार के पापों का मूल है।

हे वशी ! स्थावर-जंगम जगत् का नियमन करने वाले हे प्रभो ! अभिमान और अवसाद अज्ञान-मूलक हैं। तुम्हारी शक्ति-सामर्थ्य को ठीक-ठीक प्रत्यक्ष न करने के कारण ही, हम कभी गर्वोन्मत्त होते हैं, कभी हिम्मत हार बैठते हैं।

हे लीला-निकेतन ! तुम कितनी ही बार सृष्टि-रचना का दिव्य खेल खेलते हो, और फिर प्रलय का महाताण्डव कर, संहार का भीषण दृश्य उप-स्थित करते हो। अनवरत घूमते हुए सूर्य, चन्द्र, टिमटिमाते हुए सितारे, उमड़ते हुए समुद्र, पृथ्वी के मापदण्ड के समान फैले हुए पर्वत, द्युलोक,

अन्तरिक्ष आदि लोक-लोकान्तर, तुम्हारे दिव्य कर्म और असीम सामर्थ्य की कथा, हमारे कानों में कह रहे हैं। हे प्रभो! हम इनका सन्देश सुनें, तुम्हारी लीला का साक्षात्कार करें, कभी न टूटने वाले तुम्हारे न्याय-नियमों का विचार करें। आँखों में तुम्हारी महिमा समाये, अहंकार गले। अपनी अल्पता का अनुभव हो, मस्तक तुम्हारे चरणों में नमें।

हे सर्वाधार! सृष्टि और प्रलय का चक्र तुम्हारे हाथों संचालित है। प्रलय के विनाश के बाद, तुम फिर विराट् विश्व की रचना करते हो। बिखरे पड़े हुए परमाणुओं को, एकत्र कर उनमें रंग-बिरंगे रंग भरते हो। रात्रि के अंधकार के बाद, फिर चमकते हुए सूर्य का प्रकाश है। पतझड़ के पश्चात्, पत्र-पुष्पों का उपहार लिये वसन्त आ पहुँचता है। सूखे पड़े खेत, तुम्हारी कृपा-वृष्टि की दो बूँद पड़ते ही, धन-धान्य से मुस्कराने लगते हैं; मुरझाये हुए पेड़-पौधे फिर से लहलहा उठते हैं। हे विश्व-विधाता! सृष्टि की इन सब घटनाओं के पुनः-पुनः प्रत्यक्ष से, हमारे हृदयों में आश्वासन और सांत्वना की वृष्टि हो; आशा जगे, हिम्मत बँधे, उत्साह उमड़े, उच्च भावना पनपे; कल्पना के पंख दृढ़

हों, पराजय को विजय में परिणत करने वाले विश्वास के चरण बढ़ें।

हे प्रभो ! अपने आशीर्वाद के अमृत की वर्षा करो, जिससे हम पाप के मूल अभिमान और अवमान पर विजय पा सकें, और तुम्हारी दृढ़ प्रीति पाने के अधिकारी बन सकें।

'मनुष्य में जब एक तरह का घमण्ड आ जाता है तब वह अपने अवगुण नहीं देख सकता। गर्व मनुष्य-जाति का दुश्मन है।'
—म० गांधी

'आदमी की शक्ति मर्यादित है। जिस घड़ी वह यह मिथ्याभिमान करता है कि वह सब कुछ कर सकता है, परमात्मा उसके दम्भ को चूर कर देता है।'
—म० गांधी

'Without self-faith and iron will man is but the plaything, of chance,—a puppet of circumstances.'
—S. Marden

[६]

मनसापरिक्रमा मन्त्र—१

[ऋषिः—अथर्वा । देवता—प्राची, अग्निः, असितः, आदित्याः, छन्दः—अष्टिः]

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमो ऽधिपतिभ्यो, नमो रक्षितृभ्यो,
नम इषुभ्यो, नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे
दध्मः ॥१॥ [अथर्व०—का० ३, सू० २७, मं० १]

[विधि—'शन्नोदेवी' इस मन्त्र से तीन आचमन करके, मनसा-परिक्रमा के मन्त्रों से सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना करे।

मनसा-परिक्रमा मन्त्रों को पढ़ते जाना और अपने मन से, चारों ओर बाहर-भीतर, परमात्मा को पूर्ण जानकर, निर्भय, निःशंक, उत्साही, आनन्दित, पुरुषार्थी रहना ।]

शब्दार्थ

(**प्राची**) आगे बढ़ने की (**दिक्**) दिशा-लक्ष्य है। इस प्राची दिशा में (**अग्निः**) अग्नि-स्वरूप, सबको आगे ले चलने वाला परमेश्वर (**अधिपतिः**) अधिष्ठाता व आदर्श है। (**असितः**) जो बन्धन-रहित है वह (**रक्षिता**) इस मार्ग का रक्षक है। (**आदित्याः**) तेजस्वी सूर्य भगवान् (**इषवः**) प्रेरक व सहायक है।

(**तेभ्यः-अधिपतिभ्यः-नमः**) उस अग्रणी भगवान् को नमस्कार है। (**रक्षितृभ्यः-नमः**) रक्षक को नमस्कार है। (**एभ्यः-नमः-अस्तु**) इन सबको नमस्कार हो।

(**यः-अस्मान्-द्वेष्टि**) जो हमको द्वेष करता है (**यं-वयं-द्विष्मः**) जिसको हम द्वेष करते हैं (**तं-वः-जंभे-दध्मः**) उस द्वेष करने वाले सबके दुश्मन को, आपकी दाढ़ में, रखते हैं।

प्राची—प्र उपसर्ग पूर्वक 'अञ्चु गतौ' धातु से यह शब्द बना है। अर्थ है, आगे की ओर गति—Progress.

उन्नति की ओर

विनय

हे जगदीश्वर ! तुम्हारी अनुकम्पा से, मनुष्य-जन्म प्राप्त करने का सुवर्ण अवसर हमें मिला है। मानव-जीवन, महान् आदर्शों की पूर्ति के लिये आवश्यक शक्ति-साधनों से सम्पन्न है। तुम्हारी यह दिव्य भेंट है।

जीवन का लक्ष्य, सत्य-प्राप्ति अथवा पुण्य-संचय है। प्राणिमात्र के प्रति, अपनी प्रीति विस्तृत करना, और पृथ्वी पर स्वर्ग अवतरित करने का प्रयत्न करना ही, असली जप-तप है। जगत् में कल्याण और आनन्द की वृद्धि के लिये, जीवन का योगदान करना ही तुम्हारी सच्ची उपासना है।

हे प्रकाशमय ! तुम्हारी यह उपासना कठिन है, जीवन लघु है। आहार, निद्रा और सुखसम्भोग में, हम इसकी इतिश्री न कर बैठें। इसे धन्य और यशस्वी बनाने का पुरुषार्थ करें। आगे-ही-आगे बढ़ने का हम दृढ़ संकल्प करें। बीते हुए कल की

अपेक्षा, आज, अपने लक्ष्य की ओर कुछ-न-कुछ हमारी प्रगति लक्षित हो। जीते रहने का नाम जीवन नहीं ; अपितु सैकड़ों विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी, आगे और आगे बढ़ने के अदम्य उत्साह का नाम जीवन है।

हे अग्रणी परमेश्वर ! जीवन की दौड़ में प्रथम होने का संकल्प दे, उत्साह दे, महत्त्वाकांक्षा दे। हृदय में कोमलता, दिमाग में स्फूर्ति और रुधिर में ऊष्मा, दिन-दिन, तुम्हारी अनुकम्पा से, बढ़ती जाय। अपने ज्ञान-विज्ञान, बल-बुद्धि और धन-वैभव को हम बढ़ाते जायँ, जिससे जगत् के दुःख-दारिद्रच को मिटाने में योग दे सकें, और तुम्हारी इच्छा-पूर्ति के योग्य निमित्त बन सकें। जीवन की यही चरितार्थता है।

जीवन की इस चरितार्थता के लिये, मार्ग के अनेक प्रकार के प्रलोभनों में न उलझना आवश्यक है। सड़क के किनारे खड़े वृक्षों के फल-फूल तोड़ने में ही जो लग गया, अथवा रास्ते की छोटी-मोटी सराय में ही जो आनन्द मनाने बैठ गया, वह पथ-भ्रष्ट होता है, अपनी मंज़िल पर पहुँच नहीं पाता। विलास के विविध साधनों की लालसा, अलंकारों

की भरमार, मीठे प्रतीत होने वाले विषयों का सतत चिन्तन तथा आवश्यकताओं और इच्छाओं की अमर्यादित वृद्धि आदि, वे बन्धन और बेड़ियाँ हैं, जिनसे श्रेयमार्ग के राही को बच-बच कर चलना है।

आगे बढ़ने का मार्ग बड़ा बीहड़ है। संकटों के पहाड़ माथा उठायेंगे; झंझावात और तूफ़ान क़दम पीछे हटाने को बाधित करेंगे। प्राची दिशा के अधिपति हे सूर्य भगवान्! जब-जब अन्धकार हृदय में घर करने लगे, तुम्हारे तेजोदीप्त रूप से हम प्रेरणा पाते रहें। तुम आगे-ही-आगे बढ़ते जाते हो; घड़ी-भर विश्राम लेने भी, कभी थमते नहीं; अनन्त काल से जगत् को प्रकाश दिये जाते हो। उज्ज्वल सेवा का तुम्हारा जीवन, हमारी नसों में नव-चेतना और स्फूर्ति का संचार करे।

हे अग्ने! आगे बढ़ने के संकल्प को लिये, आगे बढ़ रहे राही के, बहुत-से दुश्मन खड़े हो ही जाते हैं। जगत् में, बहुत-से दुर्जन भी हैं जो दूसरों की उन्नति देख नहीं सकते, विरोध उत्पन्न करने में ही जो आनन्द मानते हैं। उन दुर्जनों से लड़ाई मोल लेने के झगड़े में हम न उलझें। यह समझते

हुए कि दुर्जन बेचारा अज्ञान से पीड़ित है, विकार-वासनाओं के जाल में आबद्ध है ; हम उस पर दया ही खावें।

तुम्हारे न्याय पर, तुम्हारी अटूट दण्ड-व्यवस्था पर, तुम्हारी संहारक और सुधार-शक्ति पर, हम उसे छोड़ देवें। बदला लेने के प्रयत्न में, हम न पड़ें। सहानुभूति एवं करुणा में स्वर्गिक-सृष्टि सृजन करने की अदम्य शक्ति है ; हम श्रद्धा रखें। दुश्मन भी हमारे गीत गाने लगे, ऐसी सुनहली हमारी विजय हो।

प्राची दिशा के अधिपति हे अग्रणी भगवान् ! तुम्हें भक्तिभरा प्रणाम ; हमें अपनी ओर आकर्षित करते रहना। बन्धन-रहित रहने वाले हे रक्षको ! तुम्हें नमस्कार ; हमें दृढ़ बनाते रहना। हे प्रकाश-पुञ्ज सूर्य भगवान् ! तुम्हें नमस्कार ; हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहना।

—❀—

"अशक्य को शक्य बनाने में ही नवयुवक की बहादुरी है, और उसके यौवन की शोभा है।"

"प्रयत्न में और उसके कष्ट में आनन्द है, क्योंकि ऐसे प्रयत्न का मतलब ही विजय है। उद्यम के आगे कुछ असंभव नहीं।"

—म० गांधी

[७]

मनसा-परिक्रमा मन्त्र—२

[ऋषिः—अथर्वा । देवता —दक्षिणा, इन्द्रः, तिरश्चि-
राजिः पितरः, छन्दः—अत्यष्टिः]

दक्षिणा दिगिन्द्रो ऽधिपति
स्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः ।
तेभ्यो नमो ऽधिपतिभ्यो, नमो
रक्षितृभ्यो, नम इषुभ्यो, नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे
दध्मः ॥२॥

[अथर्व०—का० ३, सू० २७, मं० २]

शब्दार्थ

(दक्षिणा) समृद्धि अथवा ऐश्वर्य-वृद्धि की **(दिक्)** दिशा है। इस दिशा में **(इन्द्रः)** परम ऐश्वर्यवान् परमेश्वर **(अधिपतिः)** अधिष्ठाता व आदर्श है। **(तिरश्चिराजिः)** मर्यादा अतिक्रमण न करने वाला अथवा कुटिल चाल पर शासन करने वाला **(रक्षिता)** रक्षक है। **(पितरः)** पालन-पोषण करने वाले अनुभवी बुजुर्ग **(इषवः)** प्रेरक व सहायक हैं।

शेष मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के समान ही है।

दक्षिणा—'दक्ष वृद्धौ' धातु से यह शब्द बना है। अर्थ है विभिन्न शक्तियों और ऐश्वर्य की वृद्धि।

तिरश्चिराजिः—यह तीन शब्दों के मेल से बना है। तिरस्-टेढ़ी+अञ्चुगतौ—गति+राज धातु शासनार्थक=टेढ़ी चाल—असद् व्यवहार—पर शासन करने वाला।

ऐश्वर्य-प्राप्ति

सम्पूर्ण ऐश्वर्य के अधिपति हे इन्द्रदेव ! आगे बढ़ने के संकल्प को लेकर हम, ज्यों ही पुरुषार्थ करने लगते हैं, तुम स्नेहार्द्र हो, विविध ऐश्वर्य की वृष्टि करने लगते हो। पुरुषार्थ को तुम्हारा प्रसाद प्राप्त होता ही है। अध्यवसाय के साथ आशीर्वाद लगा ही रहता है। 'प्राचीदिक्' के बाद 'दक्षिणादिक्' आती ही है।

हे प्रेममय प्रभो ! तुम्हारे आशीर्वाद से, मैं निहाल हो रहा हूँ। ऐश्वर्य से मेरा घर भर रहा है। ऋद्धि-सिद्धि मेरा द्वार खटखटा रही हैं। संकल्प एवं अध्यवसाय के फलों को देख-देख, मैं आश्चर्य-चकित हो रहा हूँ। जो अनहोनी थी, वह हो रही है। स्वप्न सब साकार होने लगे हैं। हे लीला-निकेतन ! तुम्हारी लीला अद्भुत है, खेल दिव्य है।

ऐश्वर्य-प्राप्ति का मार्ग मनोहर एवं मोद-मंगल-पूर्ण है ; परन्तु अत्यन्त मादक भी है। ऋद्धि-सिद्धि जब सामने हाथ जोड़े खड़ी हों, उस समय अपने को

संयम में रखना, विरले आदमियों का ही काम है। सामान्य व्यक्ति पर, ऐश्वर्य का नशीला प्रभाव होता है। विकार-वासनाएँ उभरने लगती हैं। जीवन का लक्ष्य ओझल होने लगता है। व्यसन एवं राग-रंग, मधुर प्रतीत होते हैं। तुम्हारा ध्यान और जप-तप, सब नीरस एवं निष्प्रयोजन मालूम होते हैं। अहंकार फुसलाता है; "भगवान् के आशीर्वाद-वाशीर्वाद से कुछ नहीं, सब-कुछ तुम्हारे बुद्धि-कौशल और अनोखी सूझ-बूझ का फल है।" अपनी विजय पर हम इतराने लगते हैं। अतुल ऐश्वर्य का ही दूसरा नाम अहंकार है।

ऐश्वर्य और अलंकारों का प्रतिदिन बढ़ता हुआ ढेर, किसकी आँखों में चकाचौंध उत्पन्न नहीं करता? विपत्ति सहन करना कठिन नहीं। वह तो धैर्य, नम्रता आदि आवश्यक गुणों का विकास करती है। इसके विपरीत सम्पत्ति, लालसा, ईर्ष्या, अहंकार, आलस्य आदि दुर्गुणों का विस्तार करती है। इन्सानियत का जैसा विनाश सम्पत्ति ने किया है, वैसा विपत्ति बेचारी ने नहीं। यह कुछ सिखा जाती है, वह भुलाती है। यह आँखें खोलती है, वह सुलाती है।

हे परमेश्वर ! ऐश्वर्य-प्राप्ति के मार्ग के खतरे को हम भली-भाँति समझें और जागरूक रहें। हम उद्धत न बनें, कुटिल चाल न चलें, मानवता को कुचलें नहीं। मर्यादा का उल्लंघन करके, देर तक कौन फल-फूल सका है ? ऐश्वर्य के एक कण को, जो हृदय सँभाल न पाया, वह तुम्हारे अनन्त ऐश्वर्य का भाजन क्या हो सकेगा ?

यह स्मरण रखते हुए कि सम्पूर्ण ऐश्वर्य तुम्हारा है, हम नम्रता, सरलता एवं उदारता कभी न छोड़ें। तुम्हारे आशीर्वाद से प्राप्त ऐश्वर्य को, दुःखित प्रजाजन में, नम्र-भाव से वितरित करें। हे अशरण-शरण ! दीनातिदीन और नीचातिनीचों के मध्य विचरने वाले तेरे चरणारविन्दों के स्पर्श करने का, यही द्वार है। कड़ी परीक्षा है।

इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए, हे पितरो ! प्रजा के पालन-पोषण में अपना सम्पूर्ण ऐश्वर्य लुटाने वाले हे अभिमान-शून्य बुजुर्गो ! हमें प्रेरणा दो ; प्रकाश और प्रोत्साहन दो। अपने उज्ज्वल जीवन और अनुभव के आलोक से, हमें दुर्गम-पथ के सब खतरों और खाई-खंदकों से बचाते रहना।

दक्षिण दिशा के अधिपति हे इन्द्र ! तुम्हें

भक्तिभरा प्रणाम ; हमें अपनी ओर आकर्षित करते रहना। मर्यादा अतिक्रमण न करने वाले हे रक्षको! तुम्हें नमस्कार ; टेढ़ी वृत्तियों से हमें बचाते रहना। अपने ऐश्वर्य से जनता-जनार्दन की सेवा करने वाले हे प्रजापालको! तुम्हें नमस्कार ; हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहना।

—❀—

"किसी भी व्यक्ति के पास यदि उसकी अपनी ज़रूरत से ज़्यादा जायदाद हो, तो वह दुःखी और ग़रीब की सेवा में उसका उपयोग करने के लिये, उस जायदाद का ट्रस्टी है।"

"ट्रस्टी, या रक्षक को तो बहुत सावधानी रखनी चाहिये। सौंपी हुई सम्पत्ति का उसे अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना चाहिये।" —म० गांधी

[८]

मनसा-परिक्रमा मन्त्र—३

[ऋषिः—अथर्वा । देवता—प्रतीची, वरुणः, पृदाकुः, अन्नम्, छन्दः—अष्टिः]

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः
पृदाकू रक्षितान्नमिषवः ।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो, नमो
रक्षितृभ्यो, नम इषुभ्यो, नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे
दध्मः ॥३॥

[अथर्व—का० ३, सू० २७, मं० ३]

शब्दार्थ

(**प्रतीची**) वापस आने की, ऐश्वर्य से पराङ्-मुख अर्थात् वैराग्य धारण करने की, (**दिक्**) दिशा है। इस दिशा में (**वरुणः**) वरणीय अथवा सर्व-श्रेष्ठ परमेश्वर (**अधिपतिः**) अधिष्ठाता व आदर्श है। (**पृदाकुः**) संग्राम के लिए [विषयों को] उत्साह से आह्वान करने वाला इस दिशा का (**रक्षिता**) रक्षक है । (**अन्नं**) विविध अन्न (**इषवः**) प्रेरक व सहायक हैं ।

तेभ्यो नमः आदि के अर्थ पूर्ववत् ।

प्रतीची—प्रति+अञ्चुगतौ+क्विन्+ङीप= वापस लौटना ।

अर्थात्—विषयों में गई इन्द्रियों को लौटाना, प्रत्याहार अथवा वैराग्य=वासना शान्ति ।

पृदाकुः— इसका अर्थ सर्प या विषैले जन्तु है। विषैले जन्तुओं से रक्षा करने वाला यह अर्थ अनेक विद्वानों ने किया है। परन्तु व्याकरण की दृष्टि से यह अर्थ ठीक नहीं प्रतीत होता, क्योंकि पृदाकु शब्द प्रथमान्त है, पंचम्यन्त नहीं। इस शब्द का वास्तविक अर्थ हमें स्पष्ट नहीं है। फिर भी पृत्+आ+कु (कवते अथवा कौति=शब्द करना) अर्थात् संग्राम के लिये उत्साहपूर्वक गर्जन करने वाला यह अर्थ लिया जा सकता है।

अनासक्त-वृत्ति

मेरा घर, जब विविध अलंकारों से सजा हो, नित्य की आय से दोनों हाथ भर रहे हों, मैं न भूलूँ, क्षण-भर के लिए भी, जीवन के उच्च आदर्श को और अपने कर्तव्य-कलाप को। सारी सज्जा में, अपनी स्तुति के मीठे स्वर में, विविध वाद्यों की सुरीली झंकार में, अपने लक्ष्य की अप्राप्ति की वेदना, मेरे अन्तर में छिपी हो।

हे प्रभो! तुम्हारे आशीर्वाद से अभिलाषाएँ पूर्ण हो रही हैं, ऐश्वर्य भरपूर मिल रहा है। अब यही प्रार्थना है, कि तुम्हारा दिया ऐश्वर्य हम संभाल सकें, सेवा के कार्यों में इसका यथायोग्य विनियोग कर सकें। भोगों में हम लिप्त न हों; हमारी प्रीति तुम्हारे प्रति, तुम्हारे स्पृहणीय गुणों के प्रति और तुम्हारे कर्म की पूर्ति के प्रति, दिन-दिन अधिक दृढ़ हो।

हे वरुण देव! सेवा के सब कार्य छोड़-छाड़-कर, किसी एकान्त कुटिया में बैठ जाने का नाम वैराग्य नहीं। यह तो निष्कर्मण्यता अथवा हिम्मत हार बैठने का ही दूसरा रूप है। असली जप-तप

तो घर में रहते हुए भी, भली प्रकार हो सकता है। सम्पूर्ण ऐश्वर्य को, सच्चे हृदय से, तुम्हारा प्रसाद समझना, तथा उसे अपने सुख-भोग में कम-से-कम व्यय करके, दीन-दुखियों में नम्रता से वितरित करते रहना ही असली वैराग्य है। जीवन का यही आवश्यक साधना है, पावन यज्ञ है।

'दक्षिण दिशा' के पश्चात् 'प्रतीची दिक्' है, ऐश्वर्य की उपलब्धि के पश्चात्, 'वरुण' बनने के लिए—विविध स्पृहणीय गुणों के विकास के लिए—हे वरेण्य ! 'वैराग्य-वृत्ति'—अनासक्ति—का व्रत हम धारण करें।

जो प्रतीची दिशा का पथिक है, जो विरक्त व अनासक्त हुआ चाहता है, उसे विचारशील होना चाहिये, बाह्यरूप से आकर्षित न हो, हृदय में झाँकना चाहिये। हिरण्यमय-पात्र से ढके सत्य के मुख का, धैर्य्य-पूर्वक उद्घाटन करने वाला ही, वैराग्य के व्रत में स्थिर हो सकता है।

अप्रतिहत विषय-सुख, परिणाम में ग्लानि और अवसाद उपजाते हैं ; अमृतोपम प्रतीत होते हैं, परन्तु समस्त इन्द्रियों के तेज को जीर्ण-शीर्ण करते हैं ; मानसिक और बौद्धिक शक्तियों को शनैः-

शनैः मूर्च्छित बनाते हैं। विषय—विलास के साथ परवशता और अतृप्ति का अभिशाप है। पशुकोटि की ओर मनुष्य को यह बलात् धकेलता है। विचार-विवेक से, जिसके हृदय में यह अनुभूति तीव्र होने लगती है, कि विषय विषधर सर्प के समान भयंकर और डसने वाले हैं, वही वैराग्य-वृत्ति का सच्चा उपासक सिद्ध होता है।

अन्न नश्वरता के प्रतीक हैं। वसन्त के प्रारम्भ में विविध अन्न खेतों में लहलहाने लगते हैं। परन्तु वसन्त का अन्त आते-आते ही वे पक जाते हैं और काट लिये जाते हैं। वे फिर-फिर उगते हैं, बढ़ते हैं और काटे जाते हैं। हे वरुण! अन्न के रूप में, तुमने धन-यौवन आदि भोग्य पदार्थों की अस्थिरता का, कैसा समर्थ उदाहरण प्रस्तुत किया है? अस्थिर पदार्थों से आसक्ति क्या? सब दुःख का, यही मूल है।

हे वरुण! वसन्त-वैभव के पूर्ण यौवन में काटे जाने वाले अन्नों से, हम अस्थिरता का पाठ ताज़ा करते रहें। हमारी आँखों में अस्थिरता जितनी बिंध जाये, अनासक्ति में उतनी ही स्थिरता आ सकती है।

प्रतीची दिशा के अधिपति हे वरुण! तुम्हें भक्तिभरा प्रणाम; हमें अपनी ओर आकर्षित करते रहना। युद्ध के लिए विषयों को उत्साहपूर्वक आह्वान करने वाले हे रक्षको! तुम्हें नमस्कार; हमें दृढ़ करते रहना। अस्थिरता को साकार करने वाले हे विविध अन्नो! तुम्हें नमस्कार; हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहना।

—०—

अनासक्ति=वैराग्य, अर्थात् वासना-शान्ति, अर्थात् अहंभाव एवं फल-लालसा का अभाव।

काम करने पर भी उसका बोझ न लगे, यह अनासक्ति रूप है।

'अनासक्त का कार्य भगवान् की भक्ति है।'

—म० गांधी

'वैराग्य एक पलड़े में, और दूसरी सारी सात्विकता दूसरे पलड़े में डालकर जब तौला, तो वैराग्य भारी निकला।'

—आचार्य विनोबा

[९]

मनसा-परिक्रमा मन्त्र—४

[ऋषिः—अथर्वा । देवता—उदीची, सोमः, स्वजः, अशनिः, छन्दः—अष्टिः]

उदीची दिक् सोमो ऽधिपतिः
स्वजो रक्षिताशनिरिषवः ।
तेभ्यो नमो ऽधिपतिभ्यो, नमो
रक्षितृभ्यो, नम इषुभ्यो, नम एभ्यो अस्तु ।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं
वो जम्भे दध्मः ॥४॥

[अथर्व—का० ३, सू० २७, मं० ४]

शब्दार्थ

(उदीची) ऊपर मुँह उठाने की अर्थात् शांति के अन्वेषरण की अथवा [**भावनाओं के ऊर्ध्वीकररण** Sublimation **की**] **(दिक्)** दिशा है। इस दिशा में **(सोमः)** शान्त-स्वरूप भगवान् **(अधिपतिः)** अधिष्ठाता व आदर्श है। **(स्वजः)** अशुभ भावनाओं को अच्छी तरह दूर फेंकने वाला अथवा निरन्तर क्रियाशील, इस दिशा का **(रक्षिता)** रक्षक है। **(अशनिः)** अग्नि, जिसकी ज्वाला हमेशा ऊपर की ओर ही जाती है **(इषवः)** प्रेरक है।

तेभ्यो नमः आदि पूर्ववत्।

उदीची=उद्+अञ्चु गतौ+क्विन्+ङीप्= ऊर्ध्वगति—भावनाओं का ऊर्ध्वीकररण।

स्वजः=सु+अजः (**अज् गतिक्षेपरणयोः**) **अर्थात् दुष्ट** भावनाओं को अच्छी प्रकार दूर फेंकने वाला।

अशनिः=इस शब्द के बिजली, वज्र तथा अग्नि आदि अर्थ कोषों में दिये हुए हैं।

शान्ति की छींट

तेरे सुनहले शामयाने के नीचे खड़ा, मैं अपने तृषार्त नयन, तेरे मुखारविन्द की ओर उठाता हूँ। मेरे अन्तर में अब तक हे प्रभु! अनावृष्टि है। दिग्दिगन्त में निष्ठुर ताप व्याप्त हो रहा है। करुणा के ओ मेघ! दो बूँद जल बरसने दे; अपनी शीतल बौछार से, मेरे अन्तर को आप्लावित होने दे।

यह भूतल जल से प्लावित है। सागर और सरोवर जल से भरपूर पड़े हैं। पर चातक को इनसे कोई प्रयोजन नहीं। भूलोक के जलों में उसकी तृष्णा नहीं, वह तो आसमान से गिरने वाली दो बूंद जल से, अपनी प्यास बुझाने का कठिन व्रत लिये बैठा है। इसीलिये आसमान में घिर रही काली बदली की ओर, आशा-भरे नयनों से वह अपनी चोंच उठाये हुए है।

शान्ति (सोम) की तलाश में, मैं दूर-दूर भटका फिरा हूँ, सघन बनों की छानबीन की है, कन्दराओं का कोना-कोना ढूंढ़ा है। पर यह सब प्रयास

विफल दीखता है। ऐश्वर्य के जिस ढेर को, शान्ति का साधन समझ, अपने चारों ओर जुटाता हूँ, एक दिन, वही मुझे बन्दी बनाने के लिए, क़ैदखाने की ऊँची दीवार बन जाता है। जिसे सुवर्ण का हार समझ छाती से लिपटाता हूँ, एक दिन वही मेरे पैरों को जकड़ने के लिए, लोहे की कठोर बेड़ी बन जाता है।

मैं अब वृथा न भटकूंगा। पार्थिव पदार्थों में अब मेरी न आस्था है, न भरोसा। इन्द्रिय-सुख तृष्णा जगाते हैं, तृप्ति पहुँचाते नहीं ; यह विश्वास अनुभव से सुदृढ़ होने से, जगत् को आकर्षित करने वाले विषयों में, मुझे अब कोई राग नहीं, स्पृहा नहीं। हे सोम ! मैं शान्ति और संतृप्ति चाहता हूँ, कब से आशा लगाए हुए हूँ। भक्तों के हृदय में जिस रस का अभिषवन करते हो, उसकी दो बूँद, मेरे हृदय में भी बरसने दे।

कस्तूरी नाभि में निहित है, परन्तु मृग बन-बन मारा फिरता है। यही गति हम लोगों की है। भीतर ढूंढ़ें तो शान्ति सुलभ ही है। शान्ति का घर आत्मा है। ईर्ष्या, लोभ, स्वार्थ, असंतोष और अहंकार ये पाँच निष्ठुर लुटेरे हैं, जिनके डर

से शान्ति किसी कोने में छुपी और सहमी पड़ी रहती है। इन लुटेरों को निकाल बाहर भगा देने पर ही, शान्ति के पायलों की मधुर रुनझुन सुन पड़ती है।

हे लीला-निकेतन ! तुम्हारी विचित्र लीला है ! जिस घर में पति-पत्नी में, पिता-पुत्र में, परिजन-परिवार में प्रेम है, वहाँ फटे-पुराने चीथड़ों में भी शान्ति अठखेलियाँ खेलती है। जहाँ विश्वास नहीं, स्नेह-सौहार्द नहीं, वहाँ मखमली गद्दे होने पर भी, यह रूठकर चल देती है। पैसों से यह कभी खरीदी नहीं गई; परन्तु पुरुषार्थ, प्रेम, और परोपकार पर यह हमेशा निछावर होती आई है।

प्रकृति और परमेश्वर के बीच जीव की स्थिति है। प्रकृति अर्थात् प्राकृतिक पदार्थों के प्रति अतिशय आसक्ति, मानव-हृदय में निहित प्रेम की अधोगति है। यह अधोगति पुरुष को पशु बनाती है; और सब अशान्ति का कारण होती है। इसके विपरीत परमेश्वर से—उच्च आदर्शों से— निर्हेतुक प्रीति, प्रेम की ऊर्ध्वगति है। यह ऊर्ध्वगति शान्ति का मूल है, जीव को शिव बनाने वाली है। हे सोम !

हमारे प्रेम की ऊर्ध्वगति हो, हमारी सम्पूर्ण भावनाओं का ऊर्ध्वीकरण (उदात्तीकरण Sublimation) हो। यही 'उदीची दिक्' है।

भगवान् ने अग्नि को पवित्रता एवं ऊर्ध्वगति का प्रतीक बनाया है। इसकी ज्वाला को नीचे करने का लाख प्रयत्न किया जाय, तो भी यह सदैव ऊपर की ओर उठती है। ऊर्ध्वगति का कैसा ज्वलन्त उदाहरण, हमारे चारों ओर प्रस्तुत है। अदम्य वासनाओं से पूर्ण वातावरण में, जब-जब हमारे चरण शिथिल हों, हम अग्नि से, अपनी भावना उन्नत बनाने के लिए, आलोक एवं प्रोत्साहन प्राप्त करते रहें।

उदीची दिशा के अधिपति हे सोम! तुम्हें भक्तिभरा प्रमाण; हमें अपनी ओर आकर्षित करते रहना। सब दुष्ट भावों को दूर करने वाले हे रक्षको! तुम्हें नमस्कार; हमें अन्तर्मुख करते रहना। ऊर्ध्वगति को साकार करने वाले हे अग्नि! तुम्हें नमस्कार; हमें पथ-प्रदर्शन करते रहना।

[१०]

मनसा-परिक्रमा मन्त्र—५

[ऋषिः अथर्वा। देवता—ध्रुवा विष्णुः कल्माषग्रीवः, वीरुधः, छन्दः अष्टिः]

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः
कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमो ऽधिपतिभ्यो, नमो
रक्षितृभ्यो, नम इषुभ्यो, नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं
वो जम्भे दध्मः ॥५॥

[अथर्व—का० ३, सू० २७, मं० ५]

शब्दार्थ

(**ध्रुवा**) स्थिरता की (**दिक्**) दिशा है। इस दिशा में (**विष्णुः**) यज्ञरूप अथवा व्यापक परमात्मा (**अधिपतिः**) अधिष्ठाता व आदर्श है। (**कल्माषग्रीवः**) कर्म में प्रतिष्ठित होने को महत्त्व-पूर्ण समझने वाला (**रक्षिता**) रक्षक है। (**वीरुधः**) नीचे से ऊपर उठने वाले लता-वृक्ष आदि (**इषवः**) प्रेरक हैं।

'तेभ्यो नमः' आदि पूर्ववत्

कल्माषग्रीवः—कर्मसु आसः प्रतिष्ठा स्थितिर्वा कर्मासः। कर्मास एव कल्माषः, कल्माष एव ग्रीवा यस्य सः, कल्माषग्रीवः। कर्म में प्रतिष्ठित होने को गर्दन—महत्त्वपूर्ण—समझने वाला।

स्थिरता

मेघ बरसा, नन्हीं-सी बूंद मुँह में पड़ी। कृतार्थता मिली, शरीर रोमांचित हुआ। जिसकी खोज में चिरकाल से भटकता फिरता था, उसकी धुंधली झाँकी मिली।

सन्तों की संगति से, त्याग का निर्जन पथ मैंने चुना। तुम्हारे आशीर्वाद से धैर्यपूर्वक क़दम बढ़ाते चला। आपत्तियों से घबराया नहीं, निर्जनता से ऊबा नहीं। दूसरों के सुख के लिए, अपना हित छोड़ने का अभ्यास किया। निराश्रितों को आश्रय दिया, दुःखियों के आँसू पोंछे। मेरे नगण्य-से त्याग से, तुम पुलकित हो उठे। आनन्दाश्रुओं से उभराते नयनों से तुम निहारने लगे। मैं स्नेहसिक्त हो अद्‌भुत शान्ति अनुभव करने लगा।

जिसे तुम्हारे सजल नयन कृतार्थ करते हों, वह क़दम पीछे क्यों हटाने लगा? शीतल छाया का विश्राम जिसके मन में माधुरी उड़ेल रहा हो, वह पीछे मुड़-मुड़ क्यों देखने लगा? सोम-रस की बूँद जिसके मुँह में पड़ चुकी हो, वह सुरा का प्याला ओठों से क्यों लगाने चला? वह दूनी उत्कंठा से,

साधना के पथ पर अपने क़दम बढ़ावेगा । 'उदीची दिक्' के बाद 'ध्रुवा दिक्' है ; शान्ति की अनुभूति के पश्चात्, निष्ठा अधिकाधिक स्थिर होने लगती है।

महान् लक्ष्य, संकल्प-मात्र से नहीं, स्थिरता से सिद्ध होते हैं। मार्ग की प्रारम्भिक शुष्कता और शून्यता में, शक्ति भरने वाली स्थिरता ही है। मँझधार में यही हिम्मत बँधाती है ; मंज़िल पर पहुँचने का चिह्न जब दूर तक दिखाई न पड़ता हो, तब भी हृदय को यह चैतन्य-स्पन्दित करती है। निराशा और निन्दा के क्षणों में, स्खलित होने से यही बचाती है। विजय का सेहरा शक्ति के सिर नहीं, हमेशा स्थिरता के सिर ही बँधता आया है। मानव में स्थिरता पर्याप्त हो, तो उसके लिए पूर्णता कौन असम्भव है ?

हे सर्वव्यापक प्रभो ! हृदय को प्राण-स्पंदित करने वाली स्थिरता दे। जन-जन के मंगल के लिए जीवन अर्पण करने की निष्ठा दे। 'कार्यं वा साधेयम् देहं वा पातेयम्' यही हमारा महामन्त्र हो।

इस महामन्त्र के लिए, अपने निर्दिष्ट मार्ग के

प्रति विशेष प्रीति होना आवश्यक है। अपने स्थिर किये कर्त्तव्य-पथ के महत्त्व और सौन्दर्य को, जो सर्वात्मना देख सकता है, वही उसके प्रति आवश्यक प्रीति और उत्साह, दीर्घ समय तक स्थिर रख सकता है। जो चल तो पड़ा है, परन्तु मार्ग की मनोहरता से जिसका चित्त विमुग्ध नहीं, वह इधर-उधर के मनोरम फलों से जब-तब आकर्षित होता है। कभी वह प्रमाद में पड़ता है, कभी प्रलोभनों के चंगुल में। अन्यान्य कर्म उसके हृदय का रस पी-पी जाते हैं। फलतः निर्दिष्ट कर्म के अनुष्ठान में हाथ-पैर फूलने लगते हैं। कर्म बीच में ही छूट जाता है। मंज़िल दूर रह जाती है।

हे यज्ञरूप प्रभो ! अपने निर्दिष्ट कर्म में हम स्थिरता से प्रतिष्ठित हों, उसी में मोद-मंगल मानें। फल के लिए कोई आसक्ति अथवा आकुलता न न हो। भोग और ऐश्वर्य की विविध कामनाओं से आकृष्ट हो, एक कर्म से दूसरे कर्म में, हम दौड़ते न फिरें। वर्षों की कमाई, क्षणभर के प्रमाद से, धूल में न मिला बैठें। सुखोपभोग में लिप्त न हों, यज्ञ-शेष से जीवन-निर्वाह करने का व्रत, आजीवन, पालन करें। तुम्हारी प्रीति प्राप्त करने के, अपने

अभीष्ट लक्ष्य की ओर, हम उत्साह से अग्रसर होते रहें।

वृक्ष और वनस्पतियाँ ज़मीन फाड़कर, सब प्रतिरोधों को स्थिरता से दूर करते हुए, नीचे से ऊपर उठती हैं। हे विष्णो ! हमें प्रोत्साहित करने के लिए, तुमने कैसा प्राणप्रद उदाहरण हमारे चारों ओर प्रस्तुत किया है। विनम्रभाव से परोप-कार-रत और हर समय मुस्कराते, चारों ओर खड़े लता-वृक्षों से, हम निर्बलता के क्षणों में, प्रेरणा लेते रहें, और अपने पथ पर दृढ़तापूर्वक बढ़ते रहने का बल प्राप्त करते रहें।

ध्रुवा दिशा के अधिपति हे विष्णो ! तुम्हें भक्तिभरा प्रणाम ; हमें अपनी ओर आकर्षित करते रहना। कर्म में प्रीतिपूर्वक प्रतिष्ठित रहने को महत्त्वपूर्ण मानने वाले हे रक्षको ! तुम्हें नमस्कार ; हमें दृढ़ बनाते रहना। यज्ञमय जीवन को साकार करने वाले हे लतावृक्षो ! तुम्हें नमस्कार ; हमें पथ-प्रदर्शन करते रहना।

—❀—

[११]

मनसा-परिक्रमा मन्त्र—६

[ऋषिः—अथर्वा। देवता—ऊर्ध्वा, बृहस्पतिः, श्वित्रः,
वर्षम् छन्दः—अष्टिः]

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः
श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः
तेभ्यो नमो ऽधिपतिभ्यो, नमो
रक्षितृभ्यो, नम इषुभ्यो, नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं
वो जम्भे दध्मः ॥६॥

[अथर्व०—का० ३, सू० २७, मं० ६]

शब्दार्थ

(**ऊध्र्वा**) सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करने की (**दिक्**) दिशा है। इस दिशा में (**बृहस्पतिः**) बड़ों से भी बड़ा परमेश्वर (**अधिपतिः**) अधिष्ठाता व आदर्श है। (**श्वित्रः**) शुद्ध, सात्विक अन्तःकरण वाला; इस दिशा का (**रक्षिता**) रक्षक है। (**वर्ष**) वर्षा की बूँदें (**इषवः**) प्रेरक हैं।

'तेभ्यो नमः' आदि पूर्ववत्।

श्वित्रः—श्वित्+श्वेतते–सफेद होता है, शुद्ध होता है—इस धातु से रक् प्रत्यय जोड़कर, यह शब्द बना है। शुभ्रः शुक्लः-शुद्धतायुक्तः इत्यर्थः।

उन्नति के शिखर पर

हे बृहस्पते ! तुम्हारे करुणामय हाथों ने मुझे उठाया है। पहाड़ की तलहटी से उठकर, तुम्हारे आशीर्वादों से, मैं इस उच्च शिखर पर पहुँचा हूँ। यहाँ का समीर, शीतल और सौरभपूर्ण प्रतीत होता है। नीरव स्थान की पवित्रता मन में समा रही है ; हरित छाया का विश्राम आत्मा में माधुरी उड़ेल रहा है। तुम्हारी कृपा असीम है, उपकार अनन्त है।

मेरे प्रयत्न व पुरुषार्थ का अब आखिरी क़दम है। समीप में दीख पड़ रहे पर्वत के उच्चतम शिखर पर पहुँचने की, मेरी अब प्रबल अभिलाषा है। वहाँ से बहता पवन, विचित्र मस्ती और उन्माद पैदा करता है। तुम्हारी वह क्रीड़ास्थली है। सब पार्थिव रागों की वहाँ इतिश्री है। स्वर्णिम प्रकाश वहाँ अठखेलियाँ खेलता है।

आख़िरी क़दम अत्यधिक सावधानी चाहता है। चढ़ाई सीधी है ; रास्ता बड़ा सँकरा है ; बर्फ़ जमी पड़ी है ; पैर फिसलता है। गिरने का भय हर घड़ी है; मौत मुँह बाये खड़ी है। भीषण संघर्ष है, भयंकर तूफ़ान है। यही वह समय है जब तुम्हारे आशीर्वाद को, मनुष्य मन-ही-मन, अपना पुरुषार्थ कहकर सराहता है। तुम्हारी विजय को, अपनी महिमा मान बैठता है। नशा चढ़ता है ; क़दम लड़खड़ाते हैं। गर्वोन्मत्त, पहाड़ की तलहटी में जा पड़ता है। परिश्रम सब धूल में मिल जाता है।

उन्नत शिखर सर करने के लिए और उस पर स्थिर रहने के लिए, अनेक प्रकार के अविद्या संबंधी मलों से विमुक्त होना नितान्त आवश्यक है। रजोगुण का भारी-भरकम बोझ लादकर, ऊँची चढ़ाइयाँ चढ़ना सम्भव नहीं है। पुरुषार्थ और परोपकार ही पर्याप्त नहीं है। ये सब स्वार्थ और दम्भ के लिए भी हो सकते हैं। ऊँचे शिखर पर क़दम जमा रखने के लिए, सत्कर्म के साथ स्नेह भी चाहिए। निर्मल अन्तःकरण ही बाह्य कर्म को ऊँचा उठाता है। प्रशंसा से नहीं, परन्तु प्रेम से प्रेरित

कर्म ही देवलोक तक पहुँचाता है। तूफ़ान और झंझावात भी इसके मार्ग में बाधा नहीं पहुँचा सकते।

हे बृहस्पते! हे ज्ञानाम्बुधे! मैं अपने अन्तः-करण को निर्मल करूँ। स्वार्थ और अहंकार आदि मलों से अपने कर्म को सर्वथा विमुक्त करूँ। अहं-कार अधोगति है; नम्रता की ऊँचाई किसने नापी है?

वर्षा की बूँदें तपकर ऊँचे चढ़ती हैं। वहाँ स्थूल और समृद्ध हो, जगत् के उपकार के लिए ज़मीन पर आती हैं। मिट्टी में अपने को वे मिला देती हैं, परन्तु धरती को उर्वर बना जाती हैं। ऊँचे-से-ऊँचे चढ़कर भी, दूसरों के कल्याण के लिए स्वाहा हो जाने का, कैसा उज्ज्वल उदाहरण, ये प्रस्तुत करती हैं! हे बृहस्पते! वर्षा की बूँदों से, हम मौन-भाव से, निस्स्वार्थ सेवा करने का पाठ पढ़ते रहें। निर्बलता के क्षणों में इनसे प्रेरणा और प्रोत्साहन प्राप्त करते रहें।

ऊर्ध्वा दिशा के अधिपति हे बृहस्पते! तुम्हें भक्तिभरा प्रणाम; हमें अपनी ओर आकर्षित करते

रहना। अन्तःकरण की को भावना-विशुद्ध करने वाले हे रक्षको ! तुम्हें नमस्कार ; हमें दृढ़ करते रहना। ऊँचे चढ़कर भी जगत् के कल्याण के लिए अपने को मिट्टी में मिला देने वाली हे वर्षा की बूँदो ! तुम्हें नमस्कार ; हमें पथप्रदर्शन करते रहना।

—❀—

"उन्नति का मूल-मंत्र है आत्म-समर्पण। उन्नति का अर्थ है आत्म-ज्ञान।"

'आत्म-शुद्धि में से आत्म-ज्ञान होता है।'

'हम खुद दिन-दिन शुद्ध होते जायँ' एक भी गंदा विचार मन में न आने दे, तो यह भी मेरे ख्याल से सेवा ही है।'

'अपनी सेवा का अर्थ है आत्म-शुद्धि।'

—म० गांधी

[१२]

उपस्थान मन्त्र—१

[ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः, देवता सूर्यः, छन्दोऽनुष्टुप्]

**उद्वयं तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम् ।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥**

[यजु० अ० ३५ । मं० १४]

[विधि—मनसा-परिक्रमा मन्त्रों के जाप के पश्चात् उपस्थान के मन्त्रों से, परमेश्वर के निकट मैं और मेरे अति निकट परमात्मा है—ऐसी बुद्धि करे ।

प्रेम में अत्यन्त मग्न होकर, अपनी आत्मा और मन को परमेश्वर में जोड़कर, उपस्थान मन्त्रों से स्तुति और प्रार्थना करे ।]

उपस्थान—उप (समीप)+स्थान (बैठना)
अर्थात् परमात्मा के समीप बैठना ।

शब्दार्थ

(वयं) हम **(तमसः—परि)** अन्धकार से परे **(उत्तरं—स्वः)** अधिक उत्कृष्ट प्रकाश को **(उत्—पश्यन्तः)** उत्कण्ठापूर्वक देखते हुए **(देवत्रा देवं)** देवों के देव, ज्योतिर्मय पदार्थों में सबसे अधिक ज्योतिर्मय, सर्व आनन्ददाता **(उत्तमं—ज्योतिः)** सर्वोत्कृष्ट प्रकाशस्वरूप **(सूर्यं)** सबके अभिसरणीय —प्राप्त करने योग्य प्रभु को **(अगन्म)** प्राप्त हुए हैं।

सूर्य—सुरिभिः प्राप्यत्वात् सूर्यः—विद्वानों से प्राप्त करने योग्य होने से, परमात्मा का नाम सूर्य है।

प्रियतम के पास

मेरे आँगन में आज वसन्त का आगमन हुआ है। डाली-डाली में, सुकोमल और हरित पल्लव फूट निकले हैं। कुसुमित कुंजों में, भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। चहुँ ओर, विकसित पुष्पों की सुरभि और कोकिलों की कुहू-कुहू के राग से भरा पवन, विचित्र मादकता पैदा कर रहा है। हे देवाधिदेव ! तुम्हारे आगमन की यह शुभ सूचना है।

दूर से आते हुए तुम्हारे समुज्ज्वल स्वर्ण-रथ की मन्द ध्वनि, कानों में पड़ने लगी है। मेरे भाग्य जगे। कब से मैं गहरी घाटियों में घूमता हूँ, पथ-हीन विजन प्रदेशों में भटकता हूँ, और गिरि-कन्दराओं को लाँघता फिरता हूँ। दीर्घ यात्रा और चिरकाल की साधना, तुम्हारे आशीर्वाद से, अब सफल होती दीखती हैं।

सब तरफ़ से बन्द कोठरी में, सूर्य भगवान् की सुनहली किरणें प्रवेश पा नहीं सकतीं। हे ज्योतिर्मय ! तुम्हारी सुनहली किरणों में स्नान करने के लिए, अँधेरी कोठरी से बाहर निकलना आवश्यक है। पार्थिव अभिलाषाएँ अर्थात् शारीरिक

सुख-भोग को ही सर्वस्व समझना, इसकी उपलब्धि के लिए, सत्य और दूसरों के हित को कुचलने से न हिचकना आदि, वे तामसिक वृत्तियाँ हैं, जो हृदय को अन्धकार से आवृत कर लेती हैं। इन पार्थिव अभिलाषाओं और तामसिक वृत्तियों से व्यक्ति, ज्यों-ज्यों ऊँचा उठता है, अपने हृदय को स्वार्थ-शून्य और सात्त्विक बनाता है, त्यों-त्यों उसे विशुद्धतर आत्मज्योति का दर्शन होता है। पृथ्वी की पीठ से उठकर द्युलोक तक पहुँचने के लिए, कैसी-कैसी दिव्य शक्तियों और विभूतियों से अन्तरात्मा को भगवान् ने विभूषित किया है, यह सब स्पष्ट रूप से देखने का नाम ही आत्म-दर्शन है। यह दर्शन, जिस उत्साह और आनन्द से हृदय को आप्लावित कर देता है, वह सर्वथा अनिर्वचनीय है।

आत्म-साक्षात्कार के पश्चात्, 'ऊर्ध्वादिशा' के बाद, उत्साह और आनन्द से उमड़ता हुआ साधक द्युलोक पहुँचता है। हे देवाधिदेव ! द्युलोक ही तुम्हारी क्रीड़ास्थली है। यहाँ सब पार्थिव रागों की इतिश्री है ; विशुद्ध ज्ञान के आलोक से यह आलोकित है। इसका कोना-कोना तुम्हारी सर्वोत्कृष्ट ज्योति से जगमगा रहा है।

हे ज्योतिर्मय ! तुम्हारी क्रीड़ास्थली में पहुँचने पर, हमें यह प्रकट हो जाता है कि तुम्हीं देवाधिदेव हो, विश्व में ओत-प्रोत हो। सूर्य के प्रकाश में, चन्द्र की चाँदनी में, तारों की झिलमिल में, विद्युत् की चमक में, उषा की झलक में, सन्ध्या की सुनहली आभा में, तुम्हारी ही दिव्य ज्योति है। तुम्हारे ही प्रकाश से, यह सब दृश्य जगत् द्युतिमान है।

पृथ्वी में ही नहीं, प्राणिजगत् में भी जहाँ कहीं दिव्यता का अंश है, वह तुम्हारी झलक है। जहाँ कहीं श्री और शक्ति है, वह सब तुम्हारे तेज का अंश है। पुण्यात्माओं की प्रज्ञा में, साधुओं के सन्तोष में, तेजस्वियों के तेज में, सन्तों की सात्त्विकता में, सुकृतियों की कीर्ति में, मेधावियों की मेधा में, महात्माओं की महिमा में, यतियों के संयम में, वीरों की विजय में, मातृहृदय की ममता में, पिता के वात्सल्य में, तुम्हारी ही विभूति झाँक रही है। सर्वत्र तुम्हारा ही प्रिय-दर्शन ! कैसा अपूर्व आनन्द !

हे सूर्य भगवान् ! भक्तों के हृदय में ज्ञान-ज्योति उत्पन्न करने वाले तथा उन्हें सन्मार्ग में प्रेरित करने वाले हे ज्योतिष्मान् प्रभु ! समस्त

कार्यभार को समाप्त कर, सन्ध्या समय, हमें अपने समीप बैठने दे, जी भर अपना ज्योतिर्मय रूप निहारने दे, तथा अंग-अंग को पुलकित-पावन होने दे। पदार्थ-पदार्थ और प्राणी-प्राणी में श्री और शक्ति का आधान करने वाला तुम्हारा यह रूप, हमारी आँखों और आत्मा में, जितना-जितना भर जाता है, उतनी ही हमारी आत्मा अल्पता त्याग-कर 'भूमा' बृहत् बनने लगती है। हम तुम्हारे समीप पहुँचते हैं, ब्रह्म सदृश बनते हैं।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं,
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

कठ० २।५।१५॥

—❀—

[१३]

उपस्थान मन्त्र—२

[ऋषिः—प्रस्कण्वः काण्वः, देवता सूर्य्यः, छन्दो गायत्री]

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥

[यजु० अ० ३३ । मं० ३१]

शब्दार्थ

(**त्यं**) उस प्रसिद्ध (**जातवेदसं**) सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान, अथवा सकल जगत् को जानने वाले (**देवं**) स्वयं देदीप्यमान तथा सबको आनन्द प्रदान करने वाले (**सूर्यं**) सर्वप्रेरक तथा सबके द्वारा प्राप्त करने योग्य परमेश्वर को (**केतवः**) परमात्म-सम्बन्धी ज्ञान कराने वाली झण्डियाँ (**उ**) निश्चय से (**उद्वहन्ति**) जताती व पहुँचाती हैं। (**विश्वाय**) सबके प्रति (**दृशे**) परमेश्वर को प्रत्यक्ष कराने के लिए।

जातवेदसं—'जातानि वेद, जाते-जाते विद्यते इति वा' यास्कः।

क. परमात्मा सब उत्पन्न वस्तुओं को जानता है, अर्थात् सर्वज्ञ है।

ख. परमात्मा सब उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान है, अर्थात् सर्वव्यापक है।

मधुर झांकी

मुझसे आँख-मिचौनी खेलने में, तुम्हें आनन्द मिलता है। तुम छिप जाते हो, मैं ढूँढ़ता फिरता हूँ। तुम्हारी खोज में, जब मैं इधर-उधर दौड़ता हूँ, तुम किसी ओट के पीछे छिपे, स्नेहार्द्र नयनों से, मुझे निहारते हो; मन्द-मन्द मुस्कराते हो और अतिशय आनन्द अनुभव करते हो।

हे जातवेदस्! पदार्थ-पदार्थ में विद्यमान हे परमेश्वर! तुम अब कहाँ छिपे रह सकोगे? प्रकृति का अणु-अणु, तुम्हारी ओर इशारा कर रहा है। प्रत्येक पदार्थ, विश्व को तुम्हारी राह बताने की, झंडी बन रहा है।

पुष्पोद्यान में, शस्यक्षेत्र में, नक्षत्र-विजड़ित नील-नभोमंडल में, किस की अभिराम रूपराशि लहरा रही है?

फूल की पंखड़ियों में, पंखियों के अनोखे पंखों में, हरित पल्लवों में, श्यामल मेघों में, सतरंगी इन्द्रधनुष में, गुलाबी उषा में, सुनहली संध्या में, किस चितेरे की तूलिका क़िस्म-क़िस्म के रंग भर रही है?

पवन के झकोरों में, झरनों की झरझर में, बादलों की गर्जन में, पक्षियों के कलरव में, आलोक-रश्मियों के तालबद्ध नृत्य में, नक्षत्र-मंडली की लयपूर्ण गति में, निर्झरिणियों की कलकल में, किसकी सुरम्य वीणा की झंकार झंकृत हो रही है ?

प्रभात की मन्द पवन में, सुधा-भरे फूलों के प्यालों में, अलसाये बादलों की मस्तानी चाल में, वायु हिल्लोलित पल्लवों के नृत्य में, काले बादलों की ओट से उगते चाँद की मुस्कान में, अलसायी आँखों को चूमती रवि-रश्मियों के चुम्बन में, शैलों के गले मिलती सरिताओं के भुजबन्धन में, पेड़ों से लिपटती लताओं के आलिंगन में, किसके हृदय का अमित प्यार उमड़ रहा है ?

उषा में किसकी मधुर छवि मुस्करा रही है ? वसंत किसके यौवन का शृङ्गार लिये ऋतु-ऋतु में उपस्थित होता है ? श्यामल मेघों में किसका स्निग्ध केशपाश लहरा उठता है ? मन्द-मन्द बहते मलयानिल में किसका सौरभ-भरा उच्छ्-वास है ? मोती-से झलकते ओसकण में किसके

स्नेहाश्रु ढुलक पड़ते हैं ? धान के बहुरंगी खेतों में किसका नील अंचल लहरा रहा है ? सरिता की मंडलाकार लहरों में किसका भृकुटि-विलास है ? विद्युत् किसका उज्ज्वल अंगराग है ? रवि-शशि किसके लोल कुण्डल हैं ? इन्द्रधनुष किस चितचोर का जादूभरा स्मित है ? सागर-गर्जन में किसके मंजीरों की रुनझुन है ? पृथ्वी किसका पग है ? अन्तरिक्ष किसका उदर है ? द्युलोक किसका विशाल भाल है ?

रोज सवेरे सैकड़ों योजन दूर से चलकर आलोक—दूत, किसका सन्देश कलियों के कान में कहने, पुष्पों की क्यारियों में आ पहुँचता है ? क्या-क्या सुनकर कलियाँ, अपना सुकुमार घूँघट उठाकर सत्वर झाँकने लगती हैं। पवन सहसा किसके अनुराग से मचल-मचल पड़ता है ? किरणें किसके राग से रंजित हो जाती हैं ? सरिताओं का उर क्यों सिहर-सिहर उठता है ? सारी धरित्री किसके सुरभित उच्छ्वास के स्पर्श से रोमांचित हो उठती है ?

आसमान में टिमटिमाते तारों की दीपमाला किसके स्वागत के लिए ? वृक्षों की मधुर मुहा-

रनियाँ किसके महिमास्तोत्र सुनाने के लिए ? व्योमचुम्बी पर्वतों की हिमधवल चोटियाँ किसकी ऊँचाई पाने के लिए ? अगाध समुद्र की अचिन्तनीय गहराई किसका गांभीर्य जताने के लिए ? सबका संकेत तुम्हारी ओर है। तुम अब कैसे छिपे रह सकोगे ?

हे दिव्य-गुणसंपन्न ! हे द्युतिमान ! प्रकृति के अणु-अणु में तुम्हारा प्रतिबिम्ब है। पृथ्वी का कण-कण तुम्हारी प्रेरणा से अनुप्राणित है। सब कहीं तुम्हारे ही प्राणों का स्पन्दन है। सर्वत्र तुम्हारी ही गति, तुम्हारी ही द्युति ; तुम्हारी ही लीला, तुम्हारी ही विभूति है।

हे सूर्य ! हे अभिसरणीय ! सम्पूर्ण विश्व को तुम्हारा दर्शन कराने के लिए, स्थान-स्थान पर फहरा रही, इन रंग-बिरंगी झंडियों का संकेत, मैं ठीक-ठीक समझ रहा हूँ। इनकी बताई राह पर, आगे बढ़ता हूँ। आँख से आँख मिलती है। प्रेम की बाढ़ उमड़ पड़ती है। मैं सब-कुछ पा जाता हूँ।

—❀—

[१४]

उपस्थान मन्त्र—३

[ऋषिः कुत्स आङ्गिरसः, देवता सूर्य्यः, छन्दस्त्रिष्टुप्]

चित्रं देवानामुदगादनीकं
चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥

[यजु० अ० ७ । मं० ४२]

शब्दार्थ

(देवानां) दिव्य गुण युक्त विद्वानों अथवा उपासकों का **(अनीकं)** जीवन व बलरूप तथा **(चित्रं)** अद्भुत रूप वाला पूजनीय परमेश्वर **(उदगात्)** हमारे हृदयाकाश में उदित हुआ है।

वह परमेश्वर **(मित्रस्य)** सूर्य का **(वरुणस्य)** वायु का तथा **(अग्नेः)** अग्नि का **(चक्षुः)** मार्ग-दर्शक है।

वह **(द्यावापृथिवी)** द्युलोक, पृथिवी-लोक तथा **(अन्तरिक्षं)** अन्तरिक्ष लोक को **(आप्राः)** व्याप रहा है।

(जगतः) चर अर्थात् प्राणिजगत् का **(तस्थुषश्च)** और अचर अर्थात् जड़ जगत् का **(आत्मा)** आत्मा वही **(सूर्यः)** सब से अभिसरणीय अर्थात् प्राप्त करने योग्य है। **(स्वाहा)** उसके प्रति हम स र्वस्व का समर्पण करते हैं।

अनीकं—अन् प्राणने+ईकन्, अनित्यनेनेति जीवनं बल वा।

चित्रं—चित्रं चायनीयं पूजनीयं (निरुक्त १२, ६)

स्वाहा—सु-अच्छी प्रकार+आ-पूर्ण+हा-ओहाक् त्यागे-समर्पण।

साक्षात् दर्शन

तुम्हें ढूँढ़ पाया हूँ । आँख-मिचौनी हो ली। मैं जीता, तुम हारे। तुम अब, अपने स्नेहमय कटाक्ष से मेरी आत्मा में आनन्द की तरंगें उठाते हुए, साक्षात्-दर्शनों के लिए प्रकट होते हो।

कैसा सुनहला समय ! जड़-चेतन सम्पूर्ण को शक्ति, प्राण व जीवन प्रदान कर रहे सूर्य भगवान्, अपनी पूर्ण आभा के साथ, मेरे हृदयाकाश में उदित हो रहे हैं। अन्धकार भाग रहा है, तामसिक वासनाओं का समूल विनाश हो रहा है, अन्तःकरण का कोना-कोना सहस्रों रश्मियों से जगमगा उठा है।

मेरी पलकों में, तुम्हारी मुस्कान की ज्योति समा रही है। भक्तों के लिए प्राणरूप प्रभु ! तुम्हारी मधुर और सुन्दर छवि देख पाया हूँ। आज हृदय में मस्ती है, आँखों में लाली है। इस मस्ती में प्रत्येक पदार्थ लाली लिये दिखाई पड़ रहा है। वस्तु-वस्तु में तुम्हारी झलक, और अणु-अणु में तुम्हारी चमक। तारों में तुम्हारी द्युति, सूर्य और चन्द्र में तुम्हारी ज्योति । चलतों में तुम्हारी गति

और स्थितों में तुम्हारी स्थिति । व्यापक आकाश में तुम व्याप रहे हो । दृढ़ पृथ्वी, तुमसे सुदृढ़ है। भूलोक, द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक इत्यादि सम्पूर्ण विश्व, तुमसे आपूर्ण है। जिधर देखता हूँ, उधर तुम्हारा ही मधुर दर्शन ! कैसा दृश्य है ! !

जो देखा है उसका वर्णन कैसे करूँ ? शब्द में अवर्णनीय के वर्णन की शक्ति कहाँ ? हृदय में भावनाओं का विचित्र सम्मिलन हो रहा है । वहाँ आनन्द है, आश्चर्य है, पूजा की भावना है। कोशिश करता हूँ; परन्तु 'चित्रम्' कहकर चुप हो रहता हूँ।

हे सर्ववित् ! उपदेशों के उपदेष्टा ! नियमों के नियामक ! स्थावर-जंगम के आत्मा ! तुम्हें प्राप्त करना, मेरे जीवन का ध्येय हो । यह समझते हुए कि तुम्हें अपनाने के लिए सर्वस्व का समर्पण आवश्यक है, मेरा जीवन तुम्हारे चरणों में अर्पित हो।

—०—

"जो सत्य जानता है, मन से, वचन से और काया से उसका आचरण करता है, वही परमेश्वर को पहचानता है।"

—म० गांधी

[१५]

उपस्थान मंत्र—४

[ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः, देवता—सूर्यः, छन्दः— त्रिष्टुप्]

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् ।
पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शतꣳ,
शृणुयाम शरदः शतं, प्रब्रवाम शरदः शतं,
अदीनाः स्याम शरदः शतं,
भूयश्च शरदः शतात् ।

[यजु० अ० ३६, मं० २४]

शब्दार्थ

(चक्षुः) सर्व-द्रष्टा, अथवा कर्तव्य कर्म का दिखानें वाला **(देवहितं)** देवों—आनन्ददान अथवा उपकार करने वालों—का हितकारी **(शुक्रं)** शुद्ध-पवित्र **(तत्)** वह परमेश्वर **(पुरस्तात्)** हमारे सामने **(उच्चरत्)** उदय हुआ है, अपने स्वरूप को प्रकट कर रहा है।

(शतं शरदः) सौ वर्ष तक हम इसे **(पश्येम)** देखते रहें। **(शतं शरदः)** सौ वर्ष तक हम इसके निमित्त **(जीवेम)** जीवित रहें। **(शतं शरदः)** सौ वर्ष तक **(शृणुयाम)** इसकी चर्चा सुनें। **(शतं शरदः)** सौ वर्ष तक **(प्रब्रवाम)** इसका प्रवचन करें। **(शतं शरदः)** सौ वर्ष तक **(अदीनाः स्याम)** इसके सम्पर्क के कारण ऐश्वर्यवान्—अदीन रहें, किसी के सामने दीनता के वचन न बोलें। **(शरदः शतात् भूयश्च)** सौ वर्ष से भी अधिक इसे देखते, इसे सुनते, प्रवचन करते तथा अदीन होते हुए जीवित रहें।

मिलन

मैं अपनी कुटी के द्वार पर खड़ा हूँ। स्निग्ध, सजल दृष्टि लिये, भुजा पसारे हुए, हृदय में अनन्त उत्कंठा लिये। तुम अपने समुज्ज्वल राजकीय सिंहासन से उतरते हो, सुनहले आलोक की भुजाएँ फैलाते हुए, दिग्दिगन्त को अद्भुत रूप की धाराओं से नहलाते हुए, स्नेहिल स्पर्श से उर में सौ-सौ उमंगें लहराते हुए। क्या निराली सजधज! कैसी अपूर्व शोभा! मैं तृषित नयनों से निहारते रह जाता हूँ। तुम सीमाएँ तोड़, छाती से लगा लेते हो। मेरा हर्ष, उर के किनारे तोड़ उमड़ने लगता है। न रही कोई सीमा, न रहा कोई बन्धन। असीम के समीप, ससीम अपने को असीम सा अनुभव करने लगा। कैसा मधुर मिलन! प्रेम की शक्ति धन्य है।

हे प्रेममय प्रभो! तुम्हारा और मेरा यह मधुर-मिलन चिरन्तन हो। यह समझते हुए कि तुम्हारे आँचल में अविचल शान्ति विराजती है, मैं तुम्हारे दामन को, सदा के लिए, पकड़ लिया

चाहता हूँ। यह अनुभव करते हुए कि तुम्हारे चरणारविन्द ही समस्त आनन्द-मंगल के मूल स्रोत हैं, मैं इन्हें अपनी छाती से दबाया चाहता हूँ।

हे ज्योतिर्मय! तुम्हारा रूप अत्यधिक पावन, तेजस्वी और आह्लादकारी है। पृथ्वी में, पवन में, सूर्य में, चन्द्र में, गगन में, सलिल में, सृष्टि के कण-कण में बिखरी पड़ी, तुम्हारी रूपराशि, हम आँख से आँख मिलाकर निहारते रहें। इसे देखने में जो आनन्द है, वह सर्वथा अनिर्वचनीय है। सब-कुछ छोड़-छाड़कर, सैकड़ों वर्ष तक इसे देखते रहें, यही अभिलाषा होती है। अन्तः-बाह्य इन्द्रियों सहित सम्पूर्ण अन्तरात्मा, तुम्हारी रूप-छटा के दर्शन से प्रसन्न-निर्मल होती है।

हे मंगलमूर्ते! जिस प्रकार सूर्य उदित होकर, समस्त सृष्टि को आलोक से भर देता है और मार्ग दिखाता है, उसी प्रकार तुम भी चराचर को मार्ग दिखा रहे हो, अपने-अपने कर्म में प्रत्येक को प्रवृत्त कर रहे हो। अग्नि, मित्र, वरुण के ही

नहीं, सम्पूर्ण विश्व के तुम चक्षु हो। सबको सन्मार्ग दिखाना तुम्हारा दिव्य कर्म है। देवों का कल्याण करना तुम्हें प्रिय है। शक्तियों का दान करने वाले लोगों के, योगक्षेम का प्रबन्ध करने का, तुम्हारा प्रण है।

हे प्रकाशमय! तुम्हारी इस गौरव-गाथा का, सौ वर्ष तक, हम श्रवण करते रहें; तुम्हारे गुणों का हम अनवरत कीर्तन करते रहें। तुम्हारे सदृश सर्वतोभद्र और मार्गदर्शक बनने का प्रयास करें, तथा लोक-संग्रह के काम में सौ वर्ष तक लगे रहें। मानव-जीवन की यही धन्यता है।

हे रूप-निकेतन! जिसके सम्मुख प्रीति से प्रसन्न होकर, तुम अपना रूप-ऐश्वर्य सम्पूर्ण रूप से अनावृत कर देते हो, उसे दीनता और दरिद्रता कैसे स्पर्श कर सकती है? पुष्पकुञ्ज में बिखरे पड़े तुम्हारे रूप निहारने में जो मस्त है, उसे किसी के सामने हाथ पसारने की ज़रूरत क्यों होने लगी? नक्षत्र-मण्डली में, सुरभि-तरंगों में तथा पवनो-द्वेलित लघु-लहरियों में, तुम्हारी वीणा की झंकार

सुन, जिसका अंग-अंग हर्ष से थिरकने लगता है, उसे क्या पड़ी है, किसी अहंमन्य के सामने गिड़-गिड़ाने की ?

दरिद्र वह है, जिसकी तृष्णा विशाल है। पार्थिव वस्तुओं और सोने-चाँदी के टुकड़ों को बटोरने में ही जो परमतृप्ति माने हुए है, उससे बढ़कर कृपण एवं कंगाल कौन है ? झूठे स्तुति-गीत गाने को, द्वार-द्वार पर माथा झुकाने को और अपनी अन्तरात्मा को जहाँ-तहाँ बेचने को वह विवश होगा ही।

हे भक्तवत्सल ! अपने भक्तों के योगक्षेम की चिन्ता, तुम करते हो। हमें जो कुछ चाहिये और हमारे लिए जो कुछ उपयोगी है, वह तुम बिन-माँगे ही दिये जाते हो। तुम्हारे चरणों की शीतल छाया में बैठे, हमारी सम्पूर्ण कामनाएँ प्रतिक्षण पूर्ण हो रही हैं; फिर दीनता कैसी ? दरिद्रता कैसी ?

तुम्हारी प्रीति से बढ़कर अनमोल वस्तु दुनिया में कुछ नहीं। जिसके पास यह है, वह परम

सौभाग्यशाली है। हे मंगलमय! तुम्हारे चरणों में हमारी दृढ़ प्रीति हो, हम तो सिर्फ़ यही माँगते हैं। तुम्हारी छाया अमृत है। हम इसका आश्रय लें; अमर बनें, अभय बनें।

—०—

"हम सोते हैं, तब भी ईश्वर हमारी चौकीदारी करता है, फिर हम क्यों डरें?"

"बिना ज्ञान के सही स्वतन्त्रता नहीं मिलती।"

—महात्मा गांधी

[१६]

गुरुमन्त्र

[ऋषिः—विश्वामित्रः, देवता—सविता, छन्दः—गायत्री]

ओ३म् भूर्भुवः स्वः ।
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

[यजु० ३६ । ३]

[विधिः—उपस्थान मन्त्रों के पश्चात्, 'शन्नो देवीः' इस मन्त्र से तीन आचमन करके, गायत्री मन्त्र का अर्थ विचारते हुए परमात्मा की प्रार्थनोपासना करे ।]

शब्दार्थ

(**ओं**) परमेश्वर का यह सर्वश्रेष्ठ नाम है।

महाव्याहृतियों का अर्थ—वह परमेश्वर,

(क)—(**भूः**) सत्-शुभ, (**भुवः**) चित्, और (**स्वः**) आनन्दस्वरूप है।

(ख)—(**भूः**) पृथ्वीलोक, (**भुवः**) अन्तरिक्षलोक तथा (**स्वः**) द्युलोक का अधिष्ठाता है।

(ग)—(**भूः**) सब प्राणियों को जीवन देने वाला तथा प्राणों से भी प्रिय, (**भुवः**) धर्मात्माओं के दुःखों को दूर करने वाला, तथा (**स्वः**) सब जगत् में व्यापक होकर सबको नियम में रखने वाला तथा सुखस्वरूप है।

गायत्री का अर्थः—(सवितुः) सर्व जगत् के उत्पादक, सकल ऐश्वर्य के स्वामी, चराचर के हृदय में वर्तमान होकर निरन्तर प्रेरणा करने वाले (**देवस्य**) दिव्यगुणों से युक्त, आनन्दैकरस तथा सुखों के प्रदान करने वाले परमेश्वर के (**तत्**) उस (**वरेण्यं**) वरने योग्य-सर्वश्रेष्ठ (**भर्गः**) पाप-विनाशक विशुद्ध स्वरूप का (**धीमहि**) हम ध्यान करते हैं।

(**यः**) जो सवितादेव (**नः**) हमारी (**धियः**) बुद्धियों को (**प्रचोदयात्**) सब बुरे कामों से अलग करके, सदा सन्मार्ग में प्रेरित करता है।

ब्रह्मरूप-धारणा

हे सविता देव ! पृथ्वीलोक, अंतरिक्षलोक तथा द्युलोक आदि लोक-लोकान्तरों की तुम सृष्टि करने वाले हो। चराचर विश्व के एकमात्र तुम्हीं अधिपति हो। हम तुम्हारे अमृतपुत्र हैं। इस या उस देश के हम अधिवासी नहीं। संपूर्ण विश्व हमारा घर है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक आदि लोक-लोकान्तर, इस राजमहल की दीवारे हैं। सूर्य, चन्द्र और ग्रह-नक्षत्रों से जटित विस्तृत नीलाम्बर, इसकी छत है।

हे परम पिता ! अपने पुत्रों को, आनन्द-विहार के लिए, तुमनें कितना विस्तृत आँगन दिया है। हम मिलजुल कर खेलें और मोद-मंगल मनावें। छोटी-छोटी सीमाएँ और अपने पराये के भेद की दीवारें खड़ी करके, हम बँध न जावें। असंख्य नक्षत्रों से जटित नील नभो-मंडल तक, हमारा चित्त विचरण करे। मानवमात्र के प्रति स्नेह और आत्मीयता की धड़कन से हमारा हृदय स्पंदित हो। विशाल आँगन, मधुर मुस्कानों और क्रीड़ा-कल्लोलों से गूंज उठे। पृथ्वी पर स्वर्ग उतरे।

हे सृष्टिकर्ता ! तुमने मानव को खूब महिमा-मंडित किया है। इसके अन्तर को अनुराग से भर दिया है, मस्तिष्क को बुद्धि से अभिषिक्त किया है। तुम्हारे दिये प्रकाश से, हम भले-बुरे को परख सकते हैं ; अनुराग से सबको अपना बना सकते हैं।

हे सविता देव ! प्रज्ञा के रूप में तुमने अपने तेजस्वी स्वरूप का प्रतीक, मानव-मन में निहित किया है। यह अनमोल भेंट देकर, तुमने संसार में भटकने के लिए हमें छोड़ नहीं दिया। हमारे हृदयों में विराज कर, तुम प्रतिक्षण प्रेरणा दे रहे हो। सिर्फ़ सन्मार्ग-प्रदर्शन ही नहीं, उस पर चलने को भी तुम प्रोत्साहित करते हो। तुम्हारी इन प्रेरणाओं और प्रोत्साहनों से, हम तुम्हारे ज्ञान, तुम्हारे कर्म और तुम्हारे वरेण्य रूप का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

हे विराट् ! मानव के अन्तःकरण में ही नहीं, चराचर के भीतर भी, तुम्हारा ही स्पंदन है। अणु-अणु में जो गति और चेष्टा है, उस सब के तुम ही अधिपति हो। जगत् का समस्त हर्षोल्लास तुम्हारी इच्छा का खेल है। सब कहीं तुम्हारा ही दिव्य-संगीत और आनन्द-नर्तन है।

हे वरेण्य ! हम तुन्हारा संगीत सुनें, नर्तन का आनन्द लें। सब कहीं काम करती तुम्हारी शक्ति का साक्षात्कार करें। तुम्हारी प्रेरणा की धड़कन सुनें; समस्त भूमण्डल को मंगल की ओर ले चलने वाले तुम्हारे धर्ममय रूप का, निकट से, दर्शन करें।

हे आनन्द-सिन्धो ! हमारे कल्याण के लिए तुम हमारे पास से पास आ बैठे हो। बाहर-भीतर सब कहीं तुम्हारा ही प्रकाश है। फिर भी स्वार्थ और अहंकारवश हमें न कुछ सुनता है, न कुछ दीखता है! नरक का सिंहद्वार स्वार्थ और अहंकार इन्हीं दो दरवाज़ों से बना है। हे ज्योतिर्मय ! हमें आर्यों का प्रज्वलित तेज दो, जिससे तुम्हारे रूप को आवृत करने वाला सब मोहजाल जलकर भस्म हो।

हे तेजोमय ! धर्म की स्थापना करने वाला तुम्हारा दीप्तिमंत रूप, हमारी आँखों में झूले। पृथ्वी के कण-कण में श्री और शक्ति का आधान करने वाली तुम्हारी, विभूति हमारी पलकों में समाये। पंगु को गिरि-लंघन में समर्थ बनाने वाली तुम्हारी लीला, सर्वत्र आनन्दप्रसार करने वाली तुम्हारी कला, तथा पृथ्वी और नभ में फैली हुई तुम्हारी रूप छटा, हमारी आत्मा में भर-भर जाय।

हे स्नेह-सिन्धो ! सुख प्रदान करने वाले पदार्थों की पुष्कल वृष्टि में, तथा पृथ्वी को पुलकित करने वाले पर्जन्य में, उमड़ते हुए तुम्हारे प्रेम के दर्शन से, हमारा हृदय पावन हो। श्रुति ने **'प्रियं ब्रह्म'** कह कर, तुम्हारे सार-सर्वस्व के रूप में प्रेम की ही उद्घोषणा की है। प्रेम की पराकाष्ठा (सर्वभूत-मैत्री) का नाम ही परागति या प्रभुप्राप्ति है।

हे विराट् ! तुम्हारी रूप-सुधा के पान से, हमारे अन्तर की सब कुरूपता दूर हो। नस-नस में नव-जीवन का संचार हो। निराली मस्ती हो, मृत्यु दूर हो, अमरत्व प्राप्त हो। सम्पूर्णरूप से रूपान्तर हो। तुम्हारी तरह हम भी प्रेममय, धर्ममय और तेजोमय बनें। अल्प न रहें, 'भूमा' बनें। बन्धन टूटें, 'बृहत्' बनें। संशय छिन्न हों, 'शिव' बनें। द्वैत [विरोध-वैषम्य] न रहे, आनन्द की अवधि न रहे।

हे सवितादेव ! तुम में हम में पूर्ण संवादिता हो, सामंजस्य हो। हृत्तंत्री के तार परस्पर मिले हों। तुम सुर छेड़ो, हम राग-रागनियाँ सुनें। तुम

ताल दो, हम नृत्य का उपहार दें। तुम प्रेरणा दो, हम प्रवृत्ति दें; तुम दृष्टि दो, हम स्वर्गिक सृष्टि रचें।

रथ का संचालन स्वयं तुम्हारे अमृतमय हाथों से हो, इससे बढ़कर सौभाग्य और आनन्द क्या हो सकता है ! !

—०—

"बुद्धि का उपयोग समाज की भलाई के लिए ही करना चाहिये।" —महात्मा गांधी

[१७]

नमस्कारमन्त्र

[ऋषिः—परमेष्ठी प्रजापतिः, देवता—रुद्रः, छन्दः—बृहती]

ओं नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च।

[यजु० अ० १६, मं० ३१]

[विधि—गायत्री-मन्त्र के पश्चात् महर्षि ने समर्पण की निम्न विधि लिखी है—

अब समर्पण करे—अर्थात् हे ईश्वर ! दयानिधे ! आपकी कृपा से जो-जो उत्तम काम हम लोग करते हैं, वे सब आपके अर्पण हैं। इस प्रकार के समर्पण से धर्म (सत्य, न्याय का आचरण करना), अर्थ (विभिन्न पदार्थों की प्राप्ति होना), काम (इष्ट भोगों का सेवन करना) और मोक्ष (सब दुःखों से छूटकर सदा आनन्द में रहना) इन चार पुरुषार्थों की सिद्धि, शीघ्र ही प्राप्त होती है।]

हे ईश्वर दयानिधे ! भवत् कृपयाऽनेन जपोपासनादि कर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः।

शब्दार्थ

(**शम्भवाय**) शान्ति के स्रोत (**च**) तथा (**मयो-भवाय**) आनन्द के स्रोत प्रभु के लिए (**नमः**) नमस्कार हो। (**शंकराय**) सबको शान्ति प्रदान करने वाले (**च**) तथा (**मयस्कराय**) आनन्द प्रदान करने वाले, प्रभु को (**नमः**) नमस्कार हो। (**शिवाय**) कल्याण-स्वरूप (**च**) तथा (**शिव-तराय**) अत्यन्त मंगल-स्वरूप प्रभु के लिए (**नमः**) नमस्कार हो।

समर्पण

जगत् के उत्सव में मुझे निमन्त्रण मिला। मैंने अपने को धन्य समझा। इस समारोह में मुझे जो कार्यभार सौंपा गया, उसे मुझसे जैसा बन पड़ा, किया। हे करुणानिधान! अब तुम्हारे समीप बैठकर, समर्पण के गीत गाने की सुखद एवं शांतिमय वेला उपस्थित है।

हे मंगलमय प्रभु! मुझे जो कुछ समृद्धि और सफलता मिली है, वह सब तुम्हारा आशीर्वाद है। तुम्हारा उपहार तुम्हें अर्पण कर, मैं अब उऋण होना चाहता हूँ।

हे आनन्दघन! सब शुभ कर्मों के लिए आवश्यक शक्ति और साधन तुमसे पाता हूँ। राह तुम बताते हो, प्रेरणा तुम देते हो। तुम्हारे प्रेम और प्रकाश के बिना, घोर अन्धकार में, मैं क़दम कब बढ़ा सकता था? रथ हाँकने वाले तुम न हो, तो महारथी कौन बन सकता है? सब दुष्टों को, हे रुद्र! तुम्हारी भीषण दंष्ट्रा, पहले से ही पीस न डाले, तो असंख्यों दुश्मनों को एकाकी कौन जीत

सकता है ? विजय सब तुम्हारी है। हमें यश और गौरव देकर तुम प्रसन्न होते हो। स्वयं विषपान करते हो, हमें अमृत प्रदान करते हो। तुम्हारी भक्तवत्सलता धन्य है !

हे दयामय ! तुम्हारे प्रोत्साहन से सफल हुआ कर्म, वस्तुतः तुम्हारा है। तुम्हारे हाथों, हम केवल निमित्त-मात्र हैं। यह तुम्हारी असीम कृपा है। इस सब रहस्य को, मैं स्पष्ट देख रहा हूँ। इसलिए सब मैं-मैं छोड़, तुम्हारे चरणों में, कृतज्ञतापूर्वक बारम्बार नत होता हूँ। तुम्हारा कर्म तुम्हें अर्पण करता हूँ।

मैं भार-विमुक्त होता हूँ, तुम्हारी वस्तु तुम्हें सौंपकर, मैं अपूर्व आनन्द अनुभव करता हूँ। मैंने 'यह किया, वह किया' के रूप को धारण करने वाले, अहंकार के पूर्ण विसर्जन का नाम ही नमन है। इस प्रेम-पूर्ण नमन में, अर्थात् अहंकार के सर्वात्मना परित्याग में ही, तुम्हारी पूजा की पूर्णता है।

हे मंगलमय प्रभो ! कितनी ही बार, हम तुम्हारे नियम भंग करते हैं, परन्तु तुम, जरा

भी क्षोभ लाये बिना, क्षमा करते हो। हम तुम्हें भूल जाते हैं, परन्तु तुम, भूले बिना हमारे आनन्द और उत्कर्ष के लिए, सब आवश्यक वस्तुओं की वृष्टि, मुक्त-हाथों से, अनवरत किये जाते हो। हमारे जरा-से पुरुषार्थ से तुम पुलकित हो जाते हो; कण-भर त्याग को, तुम स्वर्ण से मढ़ देते हो। तुम्हारी करुणा और स्नेह को स्मरण कर, हृदय भीज उठता है; मस्तक आप-से-आप तुम्हारे चरणों में झुक जाता है।

भक्तिभाव-भरे नमस्कार के सिवाय, मेरे पास क्या है, जिसे मैं अपना कह सकता हूँ? आनन्द की बात यह है कि, तुम्हारी दृष्टि में, सबसे क़ीमती वस्तु यही है। तुम न ऐश्वर्य से रीझते हो, न किसी आडम्बर से। तुम सिर्फ़ भावों के भूखे हो। मैं इन्हीं पत्र-पुष्पों को, अञ्जलि में लिये, तुम्हें अर्पण करने आया हूँ। हे मंगलमय प्रभु! अपना नीरव नमस्कार तुम्हें समर्पित करते हुए, मेरी सम्पूर्ण अन्तरात्मा, जल-भरे सावन के मेघ की भाँति, तुम्हारे चरणों में विनम्र हो जाय। न कोई

राग रहे, न पार्थिव वस्तुओं की कोई स्पृहा शेष रहे। हृदय का अशेष समर्पण हो।

हे त्रिभुवन-पावन ! तुम्हारे चरण शान्ति और आनन्द के स्रोत हैं। जो तुम्हारी शरण में आते हैं, उन्हें तुम कृतार्थ करते हो; जो अज्ञानवश विमुख रहते हैं, उनका भी कल्याण किये जाते हो। अपने अमृत-पुत्रों के पालन-पोषण में ही, तुम आनन्द मनाते हो। हे भगवान् शंकर ! तुम्हारे चरणों में नमन करते हुए, मैं प्राणपण से तुम्हारे व्रत में दीक्षित होऊँ। पृथ्वी को प्रेम, न्याय-नीति, आनन्द और कल्याण से परिपूर्ण करने के लिए, अन्तिम क्षण तक, प्रयत्न करता रहूँ। सम्पूर्ण निष्ठा से, तुम्हारे व्रत में दीक्षित होनें में ही, नमन की चरितार्थता है।

शान्ति नमन में है, आनन्द अर्पण में है। वह मानव-जीवन सफल है, जो एक पुष्प की भाँति पूर्ण रूप से विकसित हो, अपने सौंदर्य एवं सौरभ से विश्व को सुशोभित और सुरभित करे, तथा अन्त में प्रभु के चरणों में अर्पित हो।

हे आराध्य देव ! मेरा यह जीवन-पुष्प, जैसा है वैसा, तुम्हारे चरणों में अर्पित है। इसे अपनी सेवा में लेकर, मुझे कृतार्थ करो।

—०—

आर्य वीरदल मुलताई

'जब मनुष्य अपने को एक रजकण से भी छोटा मानता है तब ईश्वर उसकी मदद करता है।'

—महात्मा गांधी

पुस्तक के सम्बन्ध में

श्री नित्यानन्द जी वेदालंकार एम० ए० की मीठी लेखनी का चमत्कार उनकी कृति "सन्ध्या विनय" में देखा। सन्ध्या के हर मन्त्र के पदार्थों के पश्चात् कितनी सुन्दर प्रार्थनायें लिखी गई हैं, जो हृदय में उतरने वाली हैं। अपने ढंग की यह अनूठी पुस्तक है। सन्ध्या करने वाले नर-नारी सन्ध्या के साथ यदि इन प्रार्थनाओं को पुरी मस्ती के साथ पढ़ें तो उनके चित पर प्रभु-भक्ति का सुन्दर रंग चढ़ेगा।

—आनन्द स्वामी सरस्वती

आपकी सन्ध्या विनय पुस्तक देखी। सन्ध्या के मन्त्रों पर आपकी लिखी सुन्दर भावपूर्ण विनयों को पढ़कर विशेष प्रसन्नता हुई। मुझे आशा है ये विनय बहुत से भाइयों को शान्ति और स्फूर्ति दे सकेंगी।

—आचार्य देव शर्मा अभय